श्रीविष्णु

सशङ्खचक्र सकिरीटकुण्डल सपीतवस्त्र सरसीरुहेक्षणम् ।
सहारवक्षःस्थलकौस्तुभश्रिय नमामि विष्णु शिरसा चतुर्भुजम् ॥

भूमिका

मानव सृष्टि के विभिन्न रुचि के अनुसार मानवीय हृदयस्थल पर विभिन्न कल्पनाएं अनवरत सुसज्जित होती रहती हैं। एक का विराम होने नहीं पाता है दूसरी उपस्थित होजाती है।

यद्यपि इस प्राकृतिक महामहिम नियम को सर्वात्मना तिरोहित करने के लिये शास्त्रों में अनेकों उपाय बतलाये गये हैं किन्तु राजस–तामस वातावरण के प्राचुर्य में प्रायः मानव समाज के फंसे रहने से उन उपायों के द्वारा उपेय की प्राप्ति दुष्कर ही नहीं, असंभव होजाती है। विषय–भोग की विरसता के दैनन्दिन अनुभव होने पर भी उसमें प्रबल अनुराग रहने के कारण उसकी सरसता को ही मनुष्य देखता रहता है। उस दृढ़ मूल विषय–अनुराग के विनाश करने के स्तम्भ का प्रथम सोपान शास्त्र में सत्संग, कर्मानुष्ठान आदि सात्त्विक विधान कहे गये हैं, जिनके द्वारा मानव की प्रवृत्ति निर्मल और सुसंस्कृत होकर उपासना स्वरूप द्वितीय सोपान या मध्यम सोपान पर आरूढ़ होने के लिये अग्रसर होजाती है।

इस सोपानपर सुदृढ़रूप से स्थैर्य प्राप्त करने के पश्चात् निश्चल और सुधीर होकर मनुष्य तृतीय सोपान या अन्तिम

सोपान पर, जो तत्त्वज्ञान या आत्म ज्ञान नाम से प्रख्यात है, आरूढ होता है।

इस दुस्तर संसारसागर से मुक्ति प्राप्त करने का यही सोपान–क्रम है और राजस–तामस वातावरण हटाने की यही सर्व श्रेष्ठ साधन–प्रणाली है। इस क्रम से कर्म, उपासना और ज्ञान की पद्धति पर आरूढ़ होने से विषय–अनुराग समूल विनष्ट हो जाते हैं। यद्यपि इसमें वर्णाश्रम के धर्म और भगवद्भक्ति के प्रचुर विवेचन रहनेसे इस पुस्तक का नाम "धर्म भक्ति रत्नाकर" है किन्तु उक्त सोपान–क्रम से इसमें संक्षेप रूप से तत्त्वज्ञान की पद्धति भी दिखायी गयी है।

वर्णाश्रम के अनुसार आवश्यकीय कर्मानुष्ठान में जीवन–यापन करने का जिसका समुज्वल भाव है वह इस ग्रन्थ को अपनाये विना नहीं रह सकता है। जिसका हृदय भगवद्भक्ति से सदैव द्रवीभूत रहता है, भगवान की नवधा भक्ति के सिवाय जिसे किसी की चाह नहीं है, उस विशुद्ध भक्त के भी पर्याप्त रूप से इस ग्रन्थमें साधन दर्शाये गये हैं। विक्षेप करने वाली भावनाओं की लहर जिसके अन्तस्तल में नहीं उठती रहती है, जन्मान्तर के धर्माचरण से प्रशान्त और निर्मल अन्तःकरण में आत्म विवेक रूप चन्द्र का उदय होरहा है. कर्म, उपासना की क्रमबद्ध

सीढ़ियों पर जिसे चढ़ने की आवश्यकता नहीं है, उसे भी इसमें सरल से सरलतम अपने सिद्धान्त को देखनेसे संतुष्टि मिलेगी इसकी मुझे पूर्ण आशा है।

सारांश यह है कि दिनरात के पारिवारिक संघर्ष से ऊबकर वास्तविक शान्ति प्राप्त करने के अभिलाषी सज्जन् के लिये यह ग्रन्थ यथार्थ रत्नाकर है। तत्त्ववस्तु जानने की इच्छा रखने वालों की सुगमता के लिये इस ग्रन्थ में जल्प और वितण्डा का प्रसंग न लाकर केवल वादरूप सदुक्ति का ही समावेश किया गया है। इसके निर्माता बाबू सूर्यमलजी मिमाणी हैं। आप वेदान्त विषय के पूर्ण अभिज्ञ और सनातन धर्म के प्रेमी हैं। आपके विद्या प्रेम का परिचय इसीसे होता है कि पूर्ण धनवान् और कलकत्ते के प्रसिद्ध व्यापारी होते हुए भी आपने अभी "ज्ञान रत्नाकर" नाम के वेदान्त सिद्धान्त के ग्रन्थ रत्नका निर्माण किया ही था कि फिर भी जनता के उपकारार्थ सोपान–क्रम से काण्डत्रय के दूसरे ग्रन्थ बनाने की तीव्र भावना इतनी प्रज्वलित हो उठी कि एक वर्ष के लगातार परिश्रम के फलस्वरूप इस ग्रन्थ का निर्माण कर मन्द बुद्धि से लेकर तीव्रप्रतिभा–सम्पन्नव्यक्ति पर्यन्त सब के लिये महान् उपकार कर दिया है।

आपका यह ग्रन्थ सर्वांग सुन्दर है । इसके विषय मौलिक और सुगमता-पूर्ण हैं । मेरा विश्वास है कि यह पुस्तक सहृदय जनता के कर कमल से रिक्त नहीं रहेगी । मेरी संशोधकता में ही यह ग्रन्थ लिखा गया है अतः भूल चूक के लिये मैं क्षमा प्रार्थी हूं ।

पं० शिवनारायण झा ।

लेखक का वक्तव्य ।

कुछ दिन पहले अद्वैत सिद्धान्त के गहन विषय को सरल रूप से खड़ी हिन्दी भाषा में लाकर "ज्ञान रत्नाकर" पुस्तक के द्वारा तत्त्वज्ञानाभिलाषी सज्जनों की सेवा करने का अवसर मुझे प्राप्त हुआ था ।

यद्यपि वह प्रयास मेरा प्रथम था किन्तु आप सज्जनों ने अपने स्वाभाविक कृपा-पूर्ण उदार दृष्टि से उसे यहां तक अपनाया कि एक ही वर्ष में उसका जिज्ञासु जगत् में पठन–पाठन का अधिकाधिक रूप में प्रचार होने लगा, जिससे मैं अपनी आशातीत सफलता के लाभ से प्रोत्साहित होकर आप सज्जनों के संमुख यह दूसरा उपहार लेकर उपस्थित हुआ हूं ।

इसमें सोपान-क्रम से कर्म-उपासना–ज्ञान रूप काण्डत्रय का सरल और विशदरूप से विवेचन किया गया है जिससे अल्पप्रतिभाशाली व्यक्ति भी अनायास ही अपने अपने धार्मिक विचार की गवेषणा कर सकें ।

आशा है कि सहृदय सज्जन इसे सहर्ष स्वीकार कर मुझ जैसे सेवक को फिर भी अपनी सेवा के गौरव से गौरवान्वित करेंगे । विज्ञजन शुद्धाशुद्ध पत्र से यन्त्रालयकी अशुद्धियों का सुधार कर लेंगे और भूल चूक के लिये क्षमा प्रदान करेंगे ।

सूरजमल मीमाणी ।

समर्पण

वन्दनीय मात !

आपके अनुपम स्नेहमय लालन-पालन के चिर वियोग के द्वारा मुझे संसार की विषम परिणामता का ज्वलन्त दिग्दर्शन हो रहा है।

जिस प्रकार अपने जीवन काल में आपने धार्मिक भावों के आचरण और उपदेशों से सदैव मेरी धार्मिक प्रवृत्ति अक्षुण्ण रक्खी है, उसी प्रकार आपकी परलोक-यात्रा ने इस विकराल ससार से मुझे विरक्ति प्रदान करके शास्त्राध्ययन की तीव्र अभिरुचि प्रदान की है अतएव मेरे अध्ययन का फल स्वरूप यह ग्रन्थ-उपहार आपके ही कर कमलों में सादर समर्पित है, जिससे आपकी दिवगत आत्मा परम शान्ति लाभ कर सके।

सूरजमल सीमाणी।

श्रीशङ्करो विजयतेतराम् ।

अनेक धर्म भक्तिनिरूपकान् ग्रन्थान् सम्यगवलोक्य महता प्रयत्नेन विरचितोऽन्वर्थ नामको धर्म भक्ति रत्नाकराभिधो ग्रन्थोऽस्ति, यस्य विलोकनेन मम स्वान्तं प्रसन्नमभूत् । ग्रन्थोऽयं चिरकाल पर्यन्तं धर्म-भक्ति ज्ञानं जनयन् प्रतिदिनमधिकं प्रचारं लभतामिति ।

निवेदकः

स्वामी स्वरूपानन्दो मण्डलीश्वरः ।

—✿—

नमः श्रीमच्छङ्कराचार्य चरणेभ्यः

समालोकि नानाशास्त्र परिशीलन व्यसन शालिना 'सूरजमल जी मीमाणी'ति नामधेय महोदयेन रचितो "धर्म भक्ति रत्नाकर" नामा ग्रन्थो मया । अयं च गीता—भागवत—मनुस्मृतिप्रभृत्यार्ष ग्रन्थ प्रमाणानुवन्धि भूयस्तर्कार्क विद्रावितविभ्रम तमोबन्ध प्रबन्ध विलसितोऽनेकजन्मकृत सुकृत परिपक्तीत्थं मनन चातुरी चमत्कृतो बाहुल्येन वैशद्येन च धर्म-भक्ति मर्माकलितोऽपि सुतरां सुललितो ब्रह्मात्म-विज्ञान शैली संक्षिप्त परिचय संनिवेशेन । एवम्विधेन सरल ग्रन्थेन धार्मिक जनताया महानुपकारः सम्भाव्यते । विक-रालेऽस्मिन्कलिकाले ह्रसमानां धर्माभिरुचिं समेधयितुमयं ग्रन्थो नितान्तं पर्याप्नोतीति सम्भावयति मे मानसम् । अत्र सर्वे परमोपयोगिनो धर्म संबन्धिनो गूढतमा विषया न्यधा-यिषत । सर्वथा प्रशंसनीयमिदं ग्रन्थ रत्नं संग्राह्यं च ।

अधिसंसारार्णवं निमग्नानामिदानीन्तनानां जनानां सकर्णधारा तरिरिव धर्मो भक्तिश्च, तयोर्विवेचनं साधीयस्या-रीत्या विहितमत्र भगवान् गौरीजानिरेनं ग्रन्थकारमेवं *विधानन्यानपि ग्रन्थान् निर्मातुं प्रचारयितुं प्रकाशयितुं* च लब्धशक्तिं प्राप्तावसरं च विदधातु इत्यभिप्रैति ।

स्वा० भागवतानन्दो मण्डलेश्वरः शास्त्री काव्य सांख्य योग न्याय वेदान्ततीर्थो वेदान्त वागीशो मीमांसा भूषणश्च ।

(कनखल, हरद्वार)

* धर्म भक्ति रत्नाकर *

* विषय सूची *

* प्रथम रत्न *

* द्वितिय रत्न *

* तृतीय रत्न *

* चतुर्थ रत्न *

* पंचम रत्न *

* षष्ठ रत्न *

* सप्तम रत्न *

* अष्टम रत्न *

* नवम रत्न *

* दशम रत्न *

* ग्यारवा रत्न *

धर्म भक्ति रत्नाकर

ॐ तत्सद् ब्रह्मणे नमः

निखिल जनकृतेज्या भोक्तृ रूपोरमेशः ।
सकल पुरनिवासात्सर्व रूपैरुपास्यः ॥
जनिधृति लय हेतुस्तत्परः साक्षिमात्रो ।
जयतु भवविबन्धच्छेद दक्षोमुरारिः ॥१॥

अर्थ—सभी लोगों के यज्ञों के एक मात्र भोक्ता, सभी मूर्त्तियों में विराजमान होने के कारण सर्वत्र उपास्य, सृष्टि, स्थिति, प्रलय के कारण, प्रकृति से परे साक्षीभूत, संसार बन्धन को काटने वाले ऐसे जो श्रीपति श्रीकृष्ण भगवान हैं उनकी जय हो।

मलविक्षालसमावृतिशातनैः ।
क्रतु सदर्चन बुद्धिभिरन्वहम् ॥
यत इहा श्रयते परमां स्थितिं ।
विशदमत्र लिखामि च तद् बुधाः ॥२॥

अर्थ—हे विद्वानो! कर्मकाण्ड से मल वासना को, उपासना से विक्षेप को, ज्ञान से आवरण को सदा नष्ट करता हुआ

जिस मार्ग से परम सिद्धि को पाता है; इस विषय को इस पुस्तक मे स्पष्टतया लिखता हूं।

इस अनिर्वचनीय अनादि सृष्टि मे अनादि काल से ही यह जीव जन्म मरण रूप क्लेश का अनुभव करता हुआ अनेकानेक योनियो में परिभ्रमण करता रहता है, कभी विश्राम नहीं पाता। स्त्री पुत्रादि विषय-भोगों को भोगता हुआ पारमार्थिक जीवन पर लेश मात्र भी ध्यान नहीं देता है। किन्तु विषय-भोग को ही वास्तव पदार्थ समझ कर दिन रात उसमें ही लगा रहता है।

कभी मनुष्य होता है तो कभी पशु बनता है और कभी स्वर्ग मे जाकर देव बन जाता है। कभी राजा होता है तो कभी घर घर भीख मांगने वाला कंगाल होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि इस प्रकार परिभ्रमण–चक्र जीव के पीछे लगा ही रहता है और वह सर्वदा पुरुषार्थ से वंचित ही रह जाता है। इसी प्रकार जीव इस मिथ्या संसार मे अपने जीवन को बिताता रहता है।

शंका—इस जीव को अनेकानेक योनियों मे भटकने का हेतु क्या है, जिससे यह जीव अनेकानेक योनियों को प्राप्त करता है?

समाधान—अनेकानेक योनियों में भटकने का हेतु जीव का अपना अदृष्ट ही है और कुछ भी नहीं है। जैसे कहा है कि—

देहादुत्क्रमणं चाऽस्मात्पुनर्गर्भे च संभवम्।
योनि कोटि सहस्रेषु सृतीचास्यान्तरात्मनः॥

(मनु० ६।६३)

जीवात्मा का इस शरीर से निकलना फिर गर्भ में प्रवेश करना और अनन्त कोटि योनियों में भ्रमण करना यह सब अपने ही कर्म के फल हैं।

इस जीव का जैसा अदृष्ट रहता है तदनुसार ही शरीर धारण करता है और वह अदृष्ट पुण्य पापात्मक होता है। किसी जीव के अदृष्ट (प्रारब्ध कर्म) में पुण्य अधिक रहता है और पाप थोड़ा रहता है, वह जीव उत्तम योनि (देव, ऋषि, पितृ, गन्धर्व आदि की योनि) में जाता है, और किसी जीव के अदृष्ट में अधिक पाप रहता है पुण्य थोड़ा रहता है, वह जीव अधम योनि (पशु, पक्षी, तिर्यक् आदि की योनि) में जाता है। जिस जीव के अदृष्ट में पुण्य और पाप दोनों समान ही रहते हैं अथवा कुछ ही न्यूनाधिक रहते हैं वह जीव मनुष्य योनि में जाता है। यथा:—

यथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति।
पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम् ॥

(प्र० उ० ३-७)

सुषुम्ना नाड़ी द्वारा ऊर्ध्व देश को उत्क्रान्त हुआ उदान वायु इस जीवात्मा को पुण्य कर्म रहने से पुण्य लोक, पाप कर्म रहने से पाप लोक, और पुण्य पाप दोनों समान रहने से मनुष्य लोक को प्राप्त करा देता है। उक्त श्रुति में "पुण्येन" और "पापेन" इन शब्दों का अधिक पुण्य और अधिक पाप से तात्पर्य है।

जैसे किसी ग्राम में अधिक सख्या में ब्राह्मणों की आबादी रहे और अत्यन्त अल्प सख्या मे अन्य जातियों की आबादी रहे वह तो ब्राह्मणोंका ग्राम ही कहाजाता है। ऐसे ही केवल पुण्य या केवल पाप नहीं रह सकता है, पुण्य पाप दोनों में ही प्राणी मात्र की स्थिति है। पुण्य रूप अदृष्ट से जीव को सुख प्राप्त होता है और पाप रूप अदृष्ट से दुःख प्राप्त होता है। अत्यधिक पुण्य के फल स्वरूप देवादि योनि में अत्यधिक सुख, जैसे अप्सरा सहवास अमृत पान आदि मिलते हैं और अत्यल्प पाप रहने के फल स्वरूप अत्यल्प दुःख, जैसे अपने से बडे देवता को देख कर द्वेष और कभी कभी दैत्यादि से भय हो जाता है। सब देवों के अधिपति देवराज इन्द्र को भी अपने से नीची श्रेणी में प्राप्त होने की शका से भय होता रहता है, क्योंकि त्रिलोकी ही विनश्वर है, सिवाय एक सच्चिदानन्द ब्रह्म के और कुछ भी सदैव टिकाऊ नहीं है।

इसी प्रकार अत्यन्त पाप के फल स्वरूप पशु आदि योनियों में अत्यन्त दुःख, जैसे—पराधीन, भोजन, शीत, आतप निवारण के उपाय का न रहना, स्वक्लेश कथन का असामर्थ्य आदि होते हैं और अत्यन्त अल्प पुण्य रहने के फल स्वरूप मैथुन समय विषयजन्य कुछ सुख होजाते हैं और कभी उत्तम भोजन की प्राप्ति से कुछ सुख होजाते हैं।

पुण्य पाप दोनों के समान मात्रा में रहने अथवा किंचित् ही न्यूनाधिक रहने के कारण मनुष्य योनि में सुख दुःख दोनों प्राय

बराबर अश मे होते हैं या कुछ ही न्यूनाधिक अश में होते हैं। और भी देखो जैसे याज्ञवल्क्य स्मृति में लिखा है।

> विपाक कर्मणा प्रेत्य केषाचिदिह जायते।
> इह वामुत्र वै केषा भावास्तत्र प्रयोजनम् ॥
> पर द्रव्याण्यभिध्यायस्तथाऽनिष्टानि चिन्तयन्।
> वितथाभिनिवेशी च जायतेऽन्त्यासु योनिषु ॥
>
> (याज्ञ० यति० १३३।१३४)

किसी कर्म का फल परलोक में किसी का यहा ही और किसी का यहा वहा दोनों स्थल में होता है, इसमें भी जैसा भाव हो। जो दूसरे के द्रव्यको हरने की चिन्ता सदा करता रहता है और अनिष्ट (ब्रह्म हत्यादि हिंसा) का चिन्तन करता और झूठी बात में बारम्बार पड सकल्प करता है वह चाडाल होता है।

> पुरुषोऽनृतवादी च पिशुनः पुरुषस्तथा।
> अनिबद्ध प्रलापी च मृग पक्षिषु जायते ॥
>
> (याज्ञ० यति० १३५)

> अदत्ता दान निरत परदारोप सेवक।
> हिंसकश्चाविधानेन स्थावरेष्यभिजायते ॥
>
> (याज्ञ० यति० १३६)

जो पुरुष झूठ बोलता, चुगली खाता, कठोर वचन बोला करता और बिना प्रसगकी बात कहा करता है वह पशु और पक्षी

की योनि में उत्पन्न होता है। जो विना दिये ही दूसरे का धन लेता रहता है, दूसरे की स्त्री में आसक्त रहता है और यज्ञ आदि के विना ही जीवों को मारा करता है, वह स्थावर योनि में उत्पन्न होता है।

आत्मज्ञः शौचवान्दान्तस्तपस्वी विजितेन्द्रियः।
धर्मकृद्वेद विद्यावित्सात्त्विको देव योनिताम् ॥
(याज्ञ० यति० १३७)

असत्कार्यरतो धीर आरम्भी विषयी च यः।
स राजसो मनुष्येषु मृतो जन्माधिगच्छति ॥
(याज्ञ० यति० १३८)

अर्थ—जो आत्मज्ञानी (विद्या और धन आदि के गर्व से रहित) होता है, शौचवान (बाह्य आभ्यन्तर की शुद्धि से युक्त), शान्ति रखने वाला, तपस्वी, जितेन्द्रिय, धर्म करने वाला और वेदों का अर्थ जानने वाला होता है वह सात्त्विक (सतोगुण वाला) देव योनि को प्राप्त होता है। जो असत्कार्य (नृत्य गीत आदि) में सदा रत, व्यग्रचित्त (कार्यों से व्याकुल) और विषयों में लिपटा रहता है, वह रजोगुण वाला मरने पर मनुष्य की योनि में उत्पन्न होता है।

निद्रालुः क्रूरकृल्लुब्धो नास्तिको याचकस्तथाः।
प्रमादवान् भिन्नवृत्तो भवेत्तिर्यक्षु तामसः ॥
(याज्ञ० यति० १३९)

रजसा तमसा चैवं समाविष्टो भ्रमन्निह ।
भावैरनिष्टैः संयुक्तः संसारं प्रतिपद्यते ॥
(याज्ञ० यति० १४०)

जो निद्रालु (अधिक सोने वाला), जीवों को पीड़ा देने वाला लोभी, नास्तिक (धर्म निन्दक) याचक (मंगन), प्रमादी (कार्य विवेक से रहित) और उलटे आचार से युक्त होता है वह तामस (तमोगुण वाला) तिर्यक् योनि (पशु पत्ती आदि योनि) में उत्पन्न होता है। इस प्रकार जो गुस्सा और तमोगुण से युक्त होकर अनेक प्रकार के दुःख देने वाले भाव से युक्त होता है वह पुनः पुनः शरीर धरता है।

यहां रहस्य यह है कि मनुष्य योनि में जो कुछ क्रिया की जाती है उसीसे भविष्य के लिये पुण्य पापात्मक अदृष्ट उत्पन्न होता है, देवादि और पशु आदि शरीर से जो क्रिया की जाती है उसमें धर्म या पाप कुछ भी नहीं बनते हैं। विशेष करके देवादि शरीर और पशु आदि शरीर केवल भोग शरीर हैं। अधिकांश में उन शरीरों के द्वारा अच्छे कर्म करने से न तो भविष्य के लिये पुण्यात्मक अदृष्ट उत्पन्न होता है और न खोटे कर्म करने से पापात्मक अदृष्ट उत्पन्न होता है। मानव शरीर से उत्पन्न अदृष्ट के अनुसार देवादि अथवा पश्वादि शरीर पाकर तदनुसार भोग भोग कर उन शरीरों का सम्बन्ध वहीं समाप्त होजाता है। पुनः पूर्व के मानव शरीर कृत अनन्तानन्त अदृष्ट में प्रबल परिपक्व

अदृष्ट आ रहता है तदनुसार ही जीव को योनि अर्थात् शरीर धारण करना पड़ता है। मनुष्य योनि मे भोग भोगने का और भविष्य के लिये अदृष्ट निर्माण का दोनो सामर्थ्य हैं। मनुष्य योनि पाकर जीव जो कुछ क्रिया करता है उस क्रियासे वह अपने भविष्य के लिये अदृष्ट निर्माण करता है। शुभ क्रिया द्वारा शुभ अदृष्ट, अशुभ क्रिया द्वारा अशुभ अदृष्ट निर्माण करता है।

इस प्रकार समस्त प्राणी के शरीर पुण्य पाप दोनो से रचित हैं। पुण्य का फल सुख और पाप का फल दुःख है। इसलिये जब तक जीवात्माको शरीर से सम्बन्ध रहता है, चाहे वह शरीर देव शरीर ही क्यों न हो, तब तक सुख दुःख भोगना ही पड़ता है; जब तक धर्म, अधर्म (पुण्य, पाप) रूप अदृष्ट रहता है तब तक शरीरका सम्बन्ध रहता ही है और जब तक रागद्वेष का द्वन्द्व रहता है तब तक पुण्य पाप रूप अदृष्टका अस्तित्व रहता ही है और जब तक अनुकूल तथा प्रतिकूल पदार्थ मे मिथ्यात्व निश्चय नहीं होता है तब तक राग द्वेष रहता ही है। जब तक भेद दृष्टि रहती है तब तक अनुकूल प्रतिकूल पदार्थों में मिथ्यात्व निश्चय नहीं होता है। जब तक अविद्या है तब तक भेद दृष्टि भी अनिवार्य है और जब तक ब्रह्म विद्या प्राप्त नहीं होती है तब तक अविद्या का उच्छेद असंभव है। अतः मनुष्य मात्र को आत्म ज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्त करना ही पुरुषार्थ है।

अविद्या से भेद दृष्टि (भेद ज्ञान), भेद दृष्टि से अनुकूल प्रतिकूल पदार्थ और उससे राग द्वेष और राग द्वेष से पुण्य, पाप

रूप अदृष्ट और अदृष्ट से शरीर और शरीर से दु ख जीवात्मा को अनिवार्य है। अन्धकार प्रकाश की तरह प्रकाश रूप ब्रह्म विद्यासे ही अधकार रूप अविद्याका विनाश सभव है, अन्य किसी उपायसे नहीं। जैसे तत्त्वानुसधानके तृतीय परिच्छेदमें लिखा है-

भ्रान्त्या प्रतीत ससारो विवेकान्नतु कर्मभि ।
न रज्ज्वारोपितः सर्पो घटाघोषान्निवर्त्तते ॥

जिस प्रकार भ्राति से रज्जु में मिथ्या प्रतीत जो सर्प है वह सर्प रज्जु रूप अधिष्ठान के ज्ञान से ही निवृत्त होता है। घटा घोष आदि मन्त्रा से निवृत्त नहीं होता। इसी प्रकार आत्मा मे भ्राति से मिथ्या प्रतीत जो ससार है वह ससार अधिष्ठान स्वरूप आत्मा के साक्षात्कार रूप विवेक से ही निवृत्त होता है। कर्म आदि द्वारा यह ससार निवृत्त नहीं होता।

शास्त्रोक्त अन्य उपायों की उपयोगिता ब्रह्म विद्या प्राप्त करने में है अर्थात् यज्ञ, दान, तप, ईश्वर भजन, गगा स्नान आदि से अन्त करण निर्मल होजाता है जिससे अन्त करण में ब्रह्म विद्या रूप सूर्य का उदय होजाता है। वह ब्रह्म विद्या जिज्ञासु पुरुष को ही प्राप्त होती है। ससार में मनुष्य चार प्रकार के होते हैं, (१) पामर (२) विषयी (३) जिज्ञासु और (४) मुक्त।

पामर—

जो मनुष्य इस लोक के निषिद्ध और विहित सभी भोगों मे आसक्त हो और शास्त्र सस्कार रहित हो उसे पामर कहते हैं।

विषयी—

जो मनुष्य शास्त्र के अनुसार विषय को भोगता हुआ ऐहिक-लौकिक अथवा पारलौकिक भोग के लिये विहित कर्म करता है, उसे विषयी कहते हैं।

जिज्ञासु—

जो मनुष्य श्रद्धा और विश्वास रख कर सत् शास्त्रों का श्रवण करता है और विषय-भोग को अनित्य तथा परिणाम में दुःखप्रद समझ उससे उपरत (विमुख) रहता है, उसे जिज्ञासु कहते हैं।

मुक्त—

जिस मनुष्य को वेदान्त शास्त्र के श्रवण मनन निदिध्यासन करने से दृढ़ निश्चयात्मक आत्म साक्षात्कार होजाता है, उसे मुक्त कहते हैं।

पूर्वोक्त चार प्रकार के मनुष्यों में मुक्त पुरुष तो सर्व प्रपंच से रहित नित्य मुक्त ही है, ब्रह्म-विद्या प्राप्त करने की उसकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि मुक्त अवस्था से प्रथम ही उसे ब्रह्म-विद्या अधिगत होजाती है। पामर मनुष्य का चित्त सदैव विषय-भोग में ही रत रहता है, चाहे वह भोग शास्त्र विहित हो अथवा शास्त्र निषिद्ध हो, अतः उसे ब्रह्म-विद्या की प्राप्ति असंभव है।

इसी प्रकार विषयी मनुष्य को भी ब्रह्म-विद्या में प्रवृत्ति नहीं हो सकती है; क्योंकि वह भी विषय-भोग को ही परम पुरुषार्थ

समझकर उसमें ही रत रहता है । पामर और इसमें इतना ही भेद है कि पामर पुरुष की विहित और निषिद्ध दोनों कर्मों में प्रवृत्ति रहती है, केवल विषय-भोग से मतलब रहता है और विषयी पुरुष की शास्त्र विहित कर्मों में ही प्रवृत्ति रहती है शास्त्र निषिद्ध कर्मों में प्रवृत्ति नहीं रहती । लौकिक पारलौकिक भोग की इच्छा रहती है, किन्तु शास्त्र विहित कर्म के द्वारा ही; निषिद्ध कर्म के द्वारा नहीं । विषय भोग की वासना दोनों में समान है । विषय-भोग की वासना से आविष्ट अन्त:करण में ब्रह्म विद्या प्राप्ति की तीव्र इच्छा उत्पन्न नहीं होती और उनका ब्रह्म-विद्या में अधिकार भी नहीं है । पामर और विषयी पुरुषों के लिये ब्रह्म विद्या का उपदेश देना भी शास्त्र में मना है जैसे—

"न बुद्धि भेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम् ।
जोषयेत् सर्व कर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन् ॥"
(भ० गी० ३-२६)

जो अज्ञानी पुरुष कर्म में आसक्त हैं उनकी बुद्धि को उसमें अलग न करे अर्थात् ब्रह्म-विद्या का उपदेश उन्हें न करे, उनको अभिरुचि के लिये स्वयं भी विद्वान् पुरुष निष्काम रूप से शास्त्र विहित कर्म को करे ।

इसी प्रकार मुक्त पुरुषको ब्रह्म-विद्या प्राप्त करनेकी इच्छा नहीं होती । अर्थात् मुक्त पुरुषको भी ब्रह्म-विद्या प्राप्त करनेकी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि अप्राप्त वस्तुको प्राप्तकरने की इच्छा होती है

प्राप्त को प्राप्त करने की इच्छा नहीं होती है अत. मुक्त पुरुष ब्रह्म-विद्या प्राप्ति के अधिकारी नहीं हैं। जिस पुरुष के पास जो वस्तु नहीं है वह उसे ग्रहण करने के योग्य है, वही पुरुष उसका अधिकारी हो सकता है। पामर और विषयी पुरुषों को ब्रह्म-विद्या प्राप्त नहीं है, किन्तु ब्रह्म-विद्या ग्रहण करने की उनमें योग्यता नहीं रहने के कारण वे ब्रह्म-विद्या के अधिकारी नहीं हो सकते और मुक्त पुरुष में यद्यपि ब्रह्म-विद्या ग्रहण करने की योग्यता है तो भी उन्हें इससे प्रथम ही ब्रह्म-विद्या प्राप्त होजाने के कारण वे भी ब्रह्म-विद्या में प्रवृत्त होने की इच्छा नहीं करते। इत्यादि विमर्श से सिद्ध है कि ब्रह्म-विद्या प्राप्त करने के अधिकारी केवल जिज्ञासु पुरुष हैं।

जिज्ञासु को पहले से ब्रह्म-विद्या अधिगत नहीं है और उसे अधिगत करने की योग्यता उसमें रहती है, क्योंकि विषय-भोग की वासना उसकी नहीं रहती है। वह उसे अनित्य दु ख रूप समझकर उससे घृणा करता है और वह शम दमादि साधन से युक्त होकर परमानन्द रूप ब्रह्म के विचार में लीन रहता है। जैसे श्रुति में कहा है कि—

शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः।
समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्येत्॥

शम, दमादि साधन युक्त पुरुष अन्त'करण में आत्मा को देखे अर्थात् इस ब्रह्म-विद्या की जिज्ञासा करे।

अतः जिज्ञासु पुरुष के लिये ब्रह्म-विद्या का उपदेश है, इस प्रकार वेदान्त शास्त्रोपदेश चरितार्थ होता है। ब्रह्म का जिज्ञासु बनना ही सच्चे पुरुषार्थ का साधन है। जिज्ञासु बनने के लिये जिज्ञासु के लक्षण जानने चाहिये; क्योंकि वस्तु के ज्ञान बिना उसमें प्रीति नहीं होती है। जिज्ञासु के जो जो लक्षण अपने मे अधूरे मालूम पड़ें उन्हें पूर्ण प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये। जब जिज्ञासु के शास्त्रोक्त समस्त लक्षण अपने में घटे तब अपने को जिज्ञासु समझना चाहिये। ऐसा पुरुष ही पूर्ण रूप से ब्रह्म-विद्या का अधिकारी होता है।

जिज्ञासु के लक्षण।

जिस पुरुष के अन्तःकरण में मल और विक्षेप दोष न हो तथा साधन चतुष्टय युक्त हो वह इस ब्रह्म-विद्या का अधिकारी या जिज्ञासु होता है। मनुष्य मात्र को अपने अन्तःकरण के मल और विक्षेप को दूर कर साधन चतुष्टय सम्पन्न होकर ब्रह्म-विद्या के क्रम से श्रवण, मनन, निदिध्यासन द्वारा ब्रह्म साक्षात्कार कर जन्म-मरण रूप क्लेश से छुटकारा पाकर एक, सर्वदा, स्थायी सर्वोच्च परमानन्द रूप मोक्ष का प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है। यही मनुष्य की मनुष्यता है और सब व्यर्थ है।

मनुष्य यज्ञ, दान, तपस्या, गंगा स्नान आदि धर्म कार्य से अपने अन्तःकरण के मल दोष को दूर करे और भक्ति अथवा एकान्त सेवन, सत्संग, समाधि आदि से अपने अन्तःकरण

विक्षेप दोषको दूर करे, पश्चात् विवेक, वैराग्य, षट् संपत्ति, मुमुक्षुता इस साधन चतुष्टय से युक्त होकर श्रोत्रिय (विद्वान्) ब्रह्मनिष्ठ गुरु से वेदान्त शास्त्र का श्रवण करे। शास्त्र में जिस विषय का श्रवण हो युक्तियों के द्वारा उसका विमर्श करे। इसीको मनन अथवा अनुचिन्तन कहते हैं। श्रवण, मनन करने के पश्चात् एकान्त स्थान में जाकर अवच्छिन्न रूप से अर्थात् धारा वाहिक रूप से पुनः पुनः उसीको मन में रक्खे अर्थात् मन को दूसरे विषयों से हटाकर केवल उसीमें स्थिर रक्खे, इसीको निदिध्यासन कहते हैं। इस प्रकार निदिध्यासन के परिपक्व होने पर सच्चिदानंद रूप आत्मा का अनुभव होने लगता है। इसीको साक्षात्कार या अपरोक्षात्मक अनुभव कहते हैं।

प्रारब्धवादी की शंका।

शंका—यह सब कुछ प्रारब्ध के अनुसार होता है। जो होने वाला रहता है वही होता है, मनुष्य सोचता कुछ है और होता कुछ और ही, यह रोजकी होने वाली घटना सबके सामने प्रत्यक्ष है। जिस मनुष्य का जैसा पारमार्थिक विषयक प्रारब्ध रहता है उसकी वैसी ही प्रवृत्ति परमार्थ में होती है। उसका ही उधर मन लगता है, उपर्युक्त गुरु मिल जाते हैं, विषय के झंझट दूर हो जाते हैं, एक भी विघ्न बाधा उपस्थित नहीं होती और परिवार प्रोत्साहन देते हैं। सारांश यह है कि जिसके पारमार्थिक विषयक प्रारब्ध होते हैं उन्हींके सब पारमार्थिक

साधन हो जाते हैं और जिनका वैसा प्रारब्ध नहीं है लाखों प्रयत्न करने पर भी उनकी उधर प्रवृत्ति नहीं हो सकती, उधर मन नहीं लग सकता, वैराग्य भी नहीं होता, सद्गुरु भी उन्हें नहीं मिलते, एक न एक पारिवारिक झंझट उनके पीछे लगा ही रहता है। ऐसी २ विघ्न बाधायें उपस्थित होती रहती हैं कि वे आगे बढ ही नहीं सकते। साराश यह है कि जीव को प्रारब्ध कर्म के अनुसार किसी कर्म में प्रवृत्ति और किसी कर्म से निवृत्ति होती है, अपने किये कुछ नहीं हाता, पुरुषार्थ व्यर्थ रह जाता है, तो फिर इस ब्रह्म विद्या का उपदेश करना भी व्यर्थ है और उसके लिये मनुष्य का प्रयत्न करना भी व्यर्थ है। जैसा कहा है—

तन्न भवति यन्न भाव्य भवति च भाव्य विनापि यत्नेन।
करतलगतमपि नश्यति यस्य तु भवित यता नास्ति॥

वही होता है जो होने वाला होता है, वह नहीं होता जो होने वाला नहीं है। जो होने वाला रहता है वह बिना प्रयत्न करने पर भी हो जाता है, जिसका होनहार नहीं है उसके हाथ में आकर भी विनष्ट हो जाता है, टिक नहा सकता।

नाभुक्त क्षीयते कर्म कल्प कोटि शतैरपि।
प्रारब्ध कर्मणा भोगादेव क्षय ।

करोडों कल्प में भी विना भोग के प्रारब्ध कर्म नष्ट नहीं हो सकता। प्रारब्ध कर्म का विनाश भोग करने से ही होता है, दूसरे उपायो से नहीं।

अनश्यमेव भोक्तव्यं कृत कर्म शुभाशुभम् ।

शुभ और अशुभ जो कुछ कर्म किये गये हैं वे अवश्य ही भोगने पड़ेंगे। श्रीमत्परमहस विद्यारण्य स्वामी ने अपने पंचदशी नामक ग्रन्थ में कहा है कि—

अवश्य भावि भावाना प्रतीकारो भवेद्यदि ।
तदा दुःखैर्न लिप्येरन् नल राम युधिष्ठिराः ॥

अवश्य होने वाली घटनाओं का यदि प्रतीकार होता तो भगवान् रामचन्द्र, नल और युधिष्ठिर दुःख न भोगते।

दुर्योधन ने भगवान् कृष्णचन्द्र से कहा था कि—

"जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः, जानाम्य धर्मं न च मे निवृत्तिः । केनापि देवेन हृदिस्थितेन, यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ॥"

मैं धर्म को जानता हूँ किंतु उसमें मेरी प्रवृत्ति नहीं होती और मैं पाप को भी जानता हूँ तो भी मेरी उससे निवृत्ति भी नहीं होती। कोई ऐसा देव अदृष्टरूपसे मेरे हृदयमें स्थित है, वह जैसा कराता है वैसा मैं करता हू। इसलिये प्रारब्ध से प्रेरित मनुष्य पर शास्त्र का उपदेश लागू नहीं हो सकता है। जिसका प्रारब्ध ही है उसको विना उपदेश के भी विवेक वैराग्य आदि साधन अनायास ही उपस्थित हो जाते हैं तथा मल और विक्षेप दोष नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार मीमासा करने से पुरुषार्थ असमजस में पड़ जाता है। इत्यादि विचार करने से यही जान

पड़ता है कि प्रारब्धानुसार भोग होने से यह जीव परतन्त्र ही रहता है, स्वतन्त्र नहीं है। यदि यह कहा जाय कि प्रारब्ध जड़ है और उसमें क्रिया कराने की शक्ति नहीं देखी जाती, जड़ की प्रवृत्ति चेतन की सहायता से ही होती है, तब जड़ प्रारब्ध स्वतन्त्र रूप से कैसे दुःख सुख भोग सकता है? अतः प्रारब्ध को चेतन की सहायता आवश्यक है, तो यह बात असंगत है, क्योंकि दो प्रकार के चेतन हैं (१) जीव चेतन और (२) ईश्वर चेतन। उनमें यदि प्रारब्ध की प्रवृत्ति जीवात्मा की सहायता से ही होती तो जीव अपनी इच्छानुसार ही सदैव सुख भोगता, अनिष्ट प्रारब्ध का भोग जो दुःख रूप है उसे कभी नहीं भोगता। इसलिये यह स्वीकार करना पड़ता है कि जीव चेतन के अनुसार प्रारब्ध की प्रवृत्ति नहीं होती। इसी प्रकार ईश्वर चेतन भी अपनी इच्छानुसार भोग नहीं देता, ईश्वर तो समस्त जीवों के लिये समान है। ईश्वर को किसी के ऊपर त्रिकाल में भी न राग रहता है और न किसी के ऊपर द्वेष ही रहता है। अतः ईश्वर किसी प्राणी को न तो सुख देता है और न किसी प्राणी को दुःख ही देता है, नहीं तो ईश्वर में भी वैषम्य और नैर्घृण्य (क्रूरता) दोष हो जाय। ईश्वर तो जीवों के अदृष्टानुसार ही भोग देता है। जैसे, मेघ (बादल) सब खेतों में समान रूप से वृष्टि प्रदान करता है किसी के खेत में कम और किसी के खेत में अधिक वर्षा नहीं करता, किन्तु जो जैसा परिश्रम करता

है, अपने खेतको परिष्कृत रखता है, उसके ही खेत तदनुसार उपजाऊ होते हैं। बादल में वैषम्य (न्यूनाधिक) और नैर्घृण्य (क्रूरता) नहीं है, इसी प्रकार ईश्वर किसी का भला और किसी का बुरा नहीं करता जैसा जिसका कर्म (प्रारब्ध) रहता है वैसा ही फल ईश्वर देता है। जब ईश्वरके द्वारा प्राणी मात्रको अपने अपने प्रारब्धानुसार ही सुख दुःख का भोग भोगना पड़ता है तब सब पुरुषार्थ (उद्योग) व्यर्थ हो जाता है।

ज्योतिष शास्त्र को देखो कि जिसके द्वारा पुरुष अपने जन्म भर के सुख दुःख और शुभ, अशुभ का ज्ञान भोग के पहिले से ही कर लेता है। पुरुष की जन्म पत्री में यह स्पष्ट रूप से लिखा रहता है कि इस पुरुष को अपने जीवन भर में अमुक अमुक सुख दुःख तथा शुभ अशुभ शारीरिक वा मानसिक क्रिया होगी। अतः ज्योतिष शास्त्र के अनुसार कथित सुख दुःख आदि फल भोगों को कौन निवृत्त कर सकता है? अतः यह सिद्ध हुआ कि जीवों को अपने अपने अदृष्टानुसार फल भोग मिलता है उसमें पुरुषार्थ कुछ काम नहीं कर सकता।

पुरुषार्थवादी का समाधान।

समाधान—पुरुषार्थ व्यर्थ नहीं हो सकता, वह सार्थक ही है। किसी भी प्रारब्ध की उत्पत्ति पुरुषार्थ से ही होती है, विना पुरुषार्थ के प्रारब्ध की उत्पत्ति नहीं हो सकती और

उत्पत्ति के विना उसकी स्थिति भी असंभव है। जैसे बीज से ही अंकुर उत्पन्न होता है, अंकुर को बीज की अपेक्षा है, उसी प्रकार पुरुषार्थ रूप बीज से ही प्रारब्ध की उत्पत्ति होती है, अतः पुरुषार्थ को मानना ही पड़ता है; यद्यपि पुरुषार्थ को भी प्रारब्ध की अपेक्षा होती है, विना प्रारब्ध के पुरुषार्थ भी नहीं रह सकता जैसे विना अंकुर के बीज उत्पन्न नहीं हो सकता अंकुर से ही बीज उत्पन्न होता है।

बीज से अकुर उत्पन्न होता है और अंकुर होने से ही बीज हो सकता है। अतः बीज और अंकुर मे प्रथम किसकी उत्पत्ति हुई, इसका निर्णय करना असंभव है, क्योंकि परस्पर के प्रति कार्य कारण दोनों देखे जाते हैं। इसी प्रकार पुरुषार्थ को प्रारब्ध की अपेक्षा पहले हुई, अथवा प्रारब्ध को पुरुषार्थ की अपेक्षा पहले हुई इसका निर्णय करना असंभव है क्योंकि विना प्रारब्ध पुरुषार्थ कुछ भी नहीं हो सकता और विना पुरुषार्थ किये प्रारब्ध बनता ही नहीं, इस प्रकार विमर्श करके शास्त्रकारों ने प्रारब्ध और पुरुषार्थ दोनो को अनादि माना है। वैसे ही बीज और अंकुर दोनों अनादि काल से ही है। प्रथम किसी से कोई उत्पन्न नहीं होता। यह विश्व प्रपंच अनादि काल से ही चला आता है, तथापि विद्वानों की राय में उपादान कारण ही पहले स्वीकृत होता है, अर्थात् जिस कार्य के प्रति जो उपादान कारण है उसकी उत्पत्ति पहले माननी पडती है।

उपादान कारण ।

जिस वस्तु से जो कार्य बनते हैं और वह वस्तु जिस कार्य रूप में स्वय परिणत हो उस कार्य के प्रति वह वस्तु उपादान कारण है।

मिट्टी घड़े का उपादान कारण है और सूत कपडे का उपादान कारण है क्योंकि मिट्टी से घडा बनता है और स्वय मिट्टी घडा रूपमें परिणत होजाती है, ऐसे ही, कपड़ा भी सूत से बनता है और सूत ही कपडा हो जाता है। इसी प्रकार बीज भी अंकुरका उपादान कारण है, क्योंकि बीजसे ही अकुर पैदा होता है और वह बीज ही अकुर रूप में स्थित होजाता है। इसी प्रकार पुरुपार्थ भी प्रारब्ध का उपादान कारण है, क्योंकि पुरुपार्थ से ही प्रारब्ध बनता है और यह पूर्व मानव जन्म का किया हुआ मानव का पुरुपार्थ ही प्रारब्ध रूप मे रहता है। इस प्रकार मीमासा करने से पुरुपार्थ सार्थक तथा अवश्य कर्त्तव्य है।

यहा यह रहस्य है कि शुभ (शास्त्र विहित) अशुभ (शास्त्र निषिद्ध) क्रिया को पुरुपार्थ कहते हैं। शुभ तथा अशुभ क्रिया से दो अकुर उत्पन्न होते हैं, एक तो अदृष्ट (संचित कर्म) और एक वासना।

शुभ क्रिया से शुभ संचित और शुभ वासना उत्पन्न होती है अशुभ क्रिया से अशुभ संचित और अशुभ वासना उत्पन्न होती है। वहाँ शुभ संचित अथवा अशुभ सचित परिपक्व होने से

प्रारब्ध बन जाता है। शुभ संचित और अशुभ संचित की परिपाकावस्था को ही प्रारब्ध कहते हैं। शुभ प्रारब्ध सुख भुगवाता है और अशुभ प्रारब्ध दुःख भुगवाता है। शुभ और अशुभ प्रारब्धों का भोग अवश्यम्भावी है, यही पूर्वोक्त वाक्यों का तात्पर्य है। अतः "अवश्यं भावि भावानाम्" "नाभुक्तं क्षीयते कर्मः" "जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः" इन शास्त्रोंका तात्पर्य संगत होता है। प्रारब्ध के भोग में पुरुषार्थ लेश मात्र भी काम नहीं करता किन्तु शुभ वासना तथा अशुभ वासना पुरुषार्थ करने से निवृत्त होजाती है।

शुभ वासना से शुभ कर्म में प्रवृत्ति होती है और अशुभ वासना से अशुभ कर्म में प्रवृत्ति होती है। उन वासनाओं का विनाश करने में ही पुरुषार्थ सफल होता है। सत्संग आदि पुरुषार्थ करने से अशुभ वासना निवृत्त हो जाती है। कुसंग आदि रूप पुरुषार्थ करने से शुभ वासना निवृत्त होजाती है। अतः वासनाओंके विनाश करनेमें ही पुरुषार्थ सार्थक होता है। इस प्रकार पुरुषार्थ और प्रारब्ध दोनों अपने २ कार्य में सफल होते हैं। इसलिये शास्त्र का उपदेश व्यर्थ नहीं हो सकता क्योंकि शास्त्रों से और ब्रह्मनिष्ठ गुरु के वाक्यों से अशुभ वासना की निवृत्ति होजाती है।

पूज्यपाद श्री १०८ शंकराचार्य ने अपने भाष्य में इस विषय पर एक अन्ध पंगु का दृष्टान्त दिया है। जैसे एक अंधा और एक पंगु मनुष्य एक जगह रहते थे, दोनों

मित्र थे। वहां एक फला हुआ आम का वृक्ष था, उसको देखकर लूले ने अंधे से कहा कि 'मित्र! यहां फला हुआ आम का वृक्ष है, पैर से लूला होने के कारण मैं वृक्ष के पास कैसे जा सकता हूं?' यह सुनकर अंधे ने उत्तर दिया कि 'मित्र! अंधा होने के कारण मैं तो वृक्ष को देखता ही नहीं तो कैसे तोड़ूँ? तुम मेरे कंधे पर चढ़ जाओ, मैं तुम्हें अपने कंधे पर लेकर वृक्षके पास चलता हूं। तुम रास्ता बतलाते रहना और वहा पहुँच कर तुम अपना हाथ उठाकर आम तोड़ लेना।' इस प्रकार दोनों की सहायता से आम तोड़ कर दोनों सुखी हुए। इसी प्रकार प्रारब्ध और पुरुषार्थ दोनों के संमिश्रण से क्रिया होती है, अलग अलग प्रारब्ध से अथवा पुरुषार्थ से कुछ कार्य नहीं होता। अतः दोनों का आश्रय लेना समुचित है। प्रारब्ध दो प्रकार के होते हैं।

(१) फलाभिसन्धि कृत (फलेच्छा जन्य) प्रारब्ध
(२) केवल प्रारब्ध

फलाभिसन्धि कृत प्रारब्ध।

अमुक कर्म के करने से मुझे अमुक फल प्राप्त होगा इस प्रकार फल प्राप्त करने की जो उत्कट इच्छा होती है उसे फलाभिसन्धि कहते हैं। फलाभिसन्धि (फल की इच्छा) से किये हुए जो कर्म हैं, वे ही जब समय पाकर परिपक्व हो जाते हैं अर्थात् भोग देने के लिये उद्यत हो जाते हैं तब उन्हें फलाभि-

सन्धि-कृत प्रारब्ध कहते हैं। इस प्रारब्ध का भोग करना ही पड़ता है, चाहे कैसा भी उपाय करो, कैसी भी तपस्या करो, इस प्रारब्ध का भोग करना पड़ेगा। इसी प्रारब्ध के उद्देश से शास्त्र के ये वचन सङ्गत होते हैं।

'ना भुक्त क्षीयते कर्म कल्पकोटि शतैरपि' 'यद्भावि न तद्भावि भावि चेन्न तदन्यथा' 'जानामि धर्म न च मे प्रवृत्ति, जानाम्य धर्म न च मे निवृत्तिः' तथा 'अवश्य भावि भावानाम्' इत्यादि।

श्रुति में भी इसी प्रारब्ध को उद्देश करके कहा गया है कि—

"सत्य कामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत् कर्तुर्भवति तत् कर्म कुरुते यत् कर्म कुरुते तदभि सम्पद्यते"

मनुष्य जिस फल की कामना करता है उस फल का साधक कर्म करने का सकल्प करता है और जिस कर्म को करने का सकल्प करता है उसे कर बैठता है और जिस कर्म को कर बैठता है उसका फल भोगता है। पुरुषार्थ के द्वारा इस प्रारब्ध की लेशमात्र भी निवृत्ति नहीं होती, इसके लिये तो 'प्रारब्ध कर्मणाम् भोगादेव क्षय.' अर्थात् प्रारब्ध कर्म का क्षय भोग करने से ही होता है यह वचन भी इसी प्रारब्ध के तात्पर्य से कहा गया है।

केवल पुण्य प्रारब्ध ।

शुभ क्रिया करने से जो प्रारब्ध बनता है उसे केवल पुण्य प्रारब्ध कहते हैं। पुण्य प्रारब्ध का फल सत्संग, सुख, आनन्द आदि है। पुण्य प्रारब्ध के फल देने के समय में यदि मनुष्य की कुसंग आदि में तीव्र प्रवृत्ति हो जावे तो पुण्य प्रारब्ध का फल नहीं के बराबर हो जाता है। अतः मनुष्य सदैव सत्संग आदि उत्तम पुरुपार्थ ही करे, कभी कुसंग आदि नीच पुरुपार्थ न करे। अनेक शास्त्रकारों ने प्रारब्ध के तीन भेद माने हैं। (१) इच्छा (२) अनिच्छा और (३) परेच्छा।

इच्छा प्रारब्ध।

अपथ्य सेविनश्चोरा राजदार रता अपि।
जानन्त एव स्वानर्थमिच्छन्त्यारब्ध कर्मणः॥

(पंच० तृप्ति० १५३).

कुपथ्य सेवन करने वाले, रोगी, चोर और राजा की स्त्री से रमण करने वाले ये तीनों अपने अनर्थ को जानते हुए भी प्रारब्ध वश होकर कुपथ्य भोजन, चोरी तथा राजा की स्त्री से रमण (संभोग) करते हैं। प्रारब्ध वश उनकी इच्छा ऐसी ही हो जाती है परिणाम का भला बुरा विचार कर प्रवृत्ति निवृत्ति नहीं होती है। प्रारब्ध वश इच्छा से कर्म करना इसे इच्छा प्रारब्ध कहते हैं।

केवल प्रारब्ध ।

बिना फल की उत्कट इच्छा से जो विहित अथवा निषिद्ध कर्म किये जाते हैं उन कर्मों के करने से कर्म-कर्त्ता के अन्त.करण मे एक अदृष्ट (संस्कार विशेष) उत्पन्न होकर रहने लगता है । समय पाकर वह अदृष्ट परिपक होता है अर्थात् कर्म-कर्त्ता उसके फल भोगने के लिये उद्यत हो जाता है उसे केवल प्रारब्ध कहते हैं । यदि तीव्र पुरुपार्थ किया जाय तो केवल प्रारब्ध का फल होकर भी नहीं होने के सदृश होता है । जैसे चन्द्रमा या दीपक का प्रकाश दिन के आलोक में कुछ भी अपना प्रभाव नहीं दिखा सकता उसी प्रकार यदि तीव्र पुरुपार्थ किया जाय तो केवल प्रारब्ध फल देते हुए भी नहीं के सदृश हो जाता है अर्थात् अपना कुछ भी प्रभाव नहीं दिखा सकता। केवल प्रारब्ध भी पुण्य पाप भेद से दो प्रकार का होता है ।

केवल पाप प्रारब्ध।

अशुभ क्रिया करने से जो प्रारब्ध बनता है उसे केवल पाप प्रारब्ध कहते हैं। इस प्रारब्ध का फल कुसंग, दुःख, क्लेश, आदि हैं। यदि प्रमाद रहित सत्संग आदि तीव्र पुरुपार्थ किया जाय तो कुसंग, दुःख, क्लेश आदि की निवृत्ति हो सकती है। तीव्र पुरुपार्थ करने पर यह प्रारब्ध थोड़ा बहुत अपना फल देता हुआ भी नहीं के बराबर हो जाता है जैसे दिन में दीपक का प्रकाश होने पर भी नहीं के बराबर होता है।

केवल पुण्य प्रारब्ध ।

शुभ क्रिया करने से जो प्रारब्ध बनता है उसे केवल पुण्य प्रारब्ध कहते हैं। पुण्य प्रारब्ध का फल सत्संग, सुख, आनन्द आदि है। पुण्य प्रारब्ध के फल देने के समय में यदि मनुष्य की कुसंग आदि में तीव्र प्रवृत्ति हो जावे तो पुण्य प्रारब्ध का फल नहीं के बराबर हो जाता है। अतः मनुष्य सदैव सत्संग आदि उत्तम पुरुपार्थ ही करे, कभी कुसंग आदि नीच पुरुपार्थ न करे। अनेक शास्त्रकारों ने प्रारब्ध के तीन भेद माने हैं। (१) इच्छा (२) अनिच्छा और (३) परेच्छा।

इच्छा प्रारब्ध।

अपथ्य सेविनश्चोरा राजदार रता अपि।
जानन्त एव स्वानर्थमिच्छन्त्यारब्ध कर्मतः॥

(पंच० तृप्ति० १५३)।

कुपथ्य सेवन करने वाले, रोगी, चोर और राजा की स्त्री से रमण करने वाले ये तीनों अपने अनर्थ को जानते हुए भी प्रारब्ध वश होकर कुपथ्य भोजन, चोरी तथा राजा की स्त्री से रमण (संभोग) करते हैं। प्रारब्ध वश उनकी इच्छा ऐसी ही हो जाती है परिणाम का भला बुरा विचार कर प्रवृत्ति निवृत्ति नहीं होती है। प्रारब्ध वश इच्छा से कर्म करना इसे इच्छा प्रारब्ध कहते हैं।

अनिच्छा प्रारब्ध

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥
(भ० गी० १८।६०)

हे कुन्ती के पुत्र (अर्जुन) ! अपने स्वाभाविक प्रारब्ध कर्म से बंधा हुआ तू मोह से 'मैं स्वतन्त्र हूं जैसा चाहूंगा वैसा ही करूंगा' इस भ्रम से जिस युद्ध को नहीं करना चाहता है उस युद्ध को तू प्रारब्ध कर्मवश अवश्य करेगा। यह अनिच्छा प्रारब्ध है। इच्छा नहीं होते हुए भी उस कर्म को करना प्रारब्ध वश है अतः इसे अनिच्छा प्रारब्ध कहते हैं।

परेच्छा प्रारब्ध ।

नानिच्छन्तो न चेच्छन्तः पर दाक्षिण्य संयुता ।
सुख दुःखे भजन्त्ये तत् परेच्छा पूर्वमेव हि ॥
(पञ्च० तृप्ति० १६२)

दूसरों का मुलाहिजा करने वाला मनुष्य न तो अपनी इच्छा से और न तो अपनी अनिच्छा से सुख दुख भोगते हैं किन्तु दूसरों की इच्छा से ही सुख दुःख भोगते हैं अर्थात् अन्य प्रीत्यर्थ सुख दुःख पाते हैं। सुख दुःख भोग का हेतु रूप यह प्रारब्ध परेच्छा पूर्वक है।

पुरुषार्थ निष्फल नहीं है ।

सीताजी ने हनुमानजी से पूछा है कि ' कच्चित् पुरुषकार च दैवं च प्रतिपद्यते ' अर्थात् रामचन्द्रजी पुरुषार्थ और प्रारब्ध

दोनों को मानते हैं एक ही पर तो निर्भर नहीं होगये। यदि पुरुषार्थ निष्फल ही होता, सब कुछ प्रारब्ध मे ही होता तो ईश्वर के अवतार स्वरूप धन्वन्तरिजी महाराज के द्वारा वैद्य शास्त्र की जो रचना हुई है वह व्यर्थ होती; क्योंकि इसके अनुसार रोग और रोग की निवृत्ति दोनों प्रारब्ध से हो होना चाहिये परंतु ऐसा नहीं है क्योंकि पुरुपार्थ व्यर्थ नहीं कहा जा सकता। जो रोग प्रारब्धजन्य नहीं है उस रोग की निवृत्ति आयुर्वेद शास्त्र के अनुसार औषधि होने से अवश्य होजाती है इस प्रकार अनेकानेक युक्तियों से निश्चित होता है कि मनुष्य मात्र को पुरुपार्थ करना आवश्यक है। मानव मात्र सत शास्त्रों के तात्पर्य को समझें और ब्रह्मज्ञान के लिये अपने अन्तःकरण के मल और विक्षेप दोप को दूर करें और साधन चतुष्टय से सम्पन्न होकर वेदान्त शास्त्र का श्रवण, मनन, निदिध्यासन करके उनको अपने वास्तव स्वरूप सच्चिदानन्द ब्रह्म का साक्षात्कार करना चाहिये। जिससे सदैव के लिये यह दुःखमय संसार छूट जाय और वे सर्वदा के लिये परमानन्द रूप हो जाय।

मनुष्य के अन्तःकरण में तीन प्रकार के दोप रहते हैं— (१) मल दोप (२) विक्षेप दोप और (३) आवरण दोप। इन तीनों दोपों के कारण ही मनुष्य पुनः २ जन्म मरण रूप क्लेश को पाता रहता है। इन दोपों के निवारण के लिये श्रुति, स्मृतियों में तीन उपाय बतलाये गये हैं—(१) कर्मकाण्ड (२) उपासनाकाण्ड और (३) ज्ञानकाण्ड। निष्काम भाव से शास्त्र के अनुसार कर्म

काण्ड के अनुष्ठान करने से मलदोप की निवृत्ति होती है। निष्काम भाव से शास्त्र के अनुसार उपासना काण्ड के सेवन करने से विक्षेप दोप की निवृत्ति होती है। शास्त्र के अनुसार ज्ञान काण्ड के सेवन करने से आवरण दोप की निवृत्ति होती है। जब इन तीनो दोपों के विनाश से मानव का अन्तःकरण निर्मल होजाता है तब वह मनुष्य अपने वास्तव स्वरूप का साक्षात्कार कर लेता है इसीको मोक्ष या मुक्ति कहते हैं। मल-दोप—जिस दोप के रहने से मनुष्य के अन्तःकरण में पापात्मक वृत्तियों का उत्थान होता रहता है अर्थात् शास्त्र विरुद्ध कार्य करने की जैसे चोरी, हिंसा, व्यभिचार, विश्वास घात आदि दुष्कर्म करने की इच्छा होती है उन दुष्कर्मों में प्रवृत्ति जिससे होती है उसे मल-दोप कहते हैं। गीता में मल-दोष के प्रभेद में ही आसुरी संपत्ति का सविस्तर विवेचन किया गया है। जैसे—

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥
(भ० गी० १६।४)

हे पार्थ! पाखण्ड, घमंड और अभिमान तथा क्रोध और कठोर वाणी एवं अज्ञान भी यह सब आसुरी सपदा को प्राप्त हुए पुरुष के लक्षण हैं और भी कई एक श्लोकों में आसुरी संपत्ति का विवेचन किया गया है। जैसे—

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्पर संभूतं किमन्यत्काम हेतुकम् ॥
(भ० गी० १६।८)

अर्थात् आसुरी प्रकृति के मनुष्य कहा करते हैं कि यह जगत् झूठ है कोई इसका आश्रय (आधार) नहीं है, और इसका कर्त्ता कोई ईश्वर भी नहीं है कोई कर्मों के फल देने वाला भी नहीं है। इस जगत् की कोई व्यवस्था नहीं है, केवल भोग भोगने के लिये ही यह है—

आशा पाश शतैर्बद्धाः काम क्रोध परायणाः ।
ईहन्ते काम भोगार्थमन्यायेनार्थ संचयान् ॥
(भ० गी० १६।१२)

अर्थात् आसुरी प्रकृति के मनुष्य सैकड़ों आशा रूपी फांसियों से बंधे हुए रहते हैं अर्थात् उन्हें अनेकानेक आशाएं लगी रहती हैं और काम क्रोध से भरे रहते हैं, अपने विषय भोग के लिये अन्याय करके धन इकट्ठा करना चाहते हैं।

मनुष्य के अन्तःकरण में जब तक मल दोष रहता है तब तक आसुरी सम्पत्ति रहती है। जैसे २ मल दोष चित्त से हटता जाता है वैसे २ आसुरी संपत्ति भी विनष्ट होती जाती है। मल दोष के कारण ही आसुरी संपत्तिका प्रादुर्भाव होता है अतः चित्त में मल दोष हटाना मनुष्य के लिये अत्यन्त आवश्यक है, इसी मल दोष को हटाने के लिये वेद में कर्मकाण्ड का उपदेश है।

※ इति प्रथम रत्न ※

कर्मकाण्ड की मीमांसा।

कर्म दो प्रकार के होते हैं—(१) विहित कर्म (२) निषिद्ध कर्म। विहित कर्म-श्रुति स्मृति में मनुष्य के करने के लिये जो कर्म कहा गया है उसे विहित कर्म कहते हैं। विहित कर्म भी दो प्रकार के होते हैं। (१) साधारण विहित (२) असाधारण विहित।

साधारण विहित कर्म।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चारो वर्णों के लिये तथा ब्रह्मचर्य्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, सन्यास इन चारों आश्रमों के लिये समान रूप से श्रुति, स्मृति में जो कर्म कहा गया है, उसे साधारण विहित कहते हैं जैसे—

अभय सत्व सशुद्धिर्ज्ञानयोग व्यवस्थितिः।
दान दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्व मार्दवं ह्रीरचापलम्॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य पाण्डव॥

(भ० गी० १६।१ २,३)

डरपोक न होना, अन्तःकरण की शुद्धि, ज्ञाननिष्ठा में आरूढ़ होना, दान करना, इन्द्रियों को अपने वश में रखना, यज्ञ करना, वेद का अध्ययन करना, तपस्या करना, सरल स्वभाव से

रहना, मन, वाणी, शरीर से किसी को दुःख न देना, सत्य बोलना, क्रोध नहीं करना, त्याग, शान्ति, चुगलखोर न होना, सब प्राणियों पर दया करना, निर्लोभ रहना, क्रूरता न रखना, लज्जा, चंचलता न रखना, तेज, क्षमा, धैर्य, पवित्रता, किसी के ऊपर वैर भाव न रखना, अत्यन्त अभिमान न रखना। ये २६ लक्षण मनुष्य मात्र के लिये सामान्य रूप से धारण करने योग्य हैं, इसीको दैवी संपत्ति कहते हैं। जिन्हें दैवी संपत्ति रहती है उन्हीं में ये लक्षण रहते हैं। इन लक्षणों में दान करना और द्रव्य यज्ञ करना, संन्यासी के लिये निषिद्ध है और वैदिक मन्त्र युक्त यज्ञ करना स्वाध्याय, (वेद अध्ययन) तथा तपस्या शूद्रों के लिये निषिद्ध है किन्तु इनके अतिरिक्त और सब समान हैं। अतः इन्हें साधारण धर्म कहते हैं, मनु भगवान् ने साधारण धर्म का उल्लेख करते हुए अपने धर्म ग्रन्थ में दश प्रकार के साधारण धर्म कहे हैं। जैसे—

> धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः ।
> धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म लक्षणम् ॥
> (मनु० ६।९२)

धैर्य, क्षमा, मन को विषय भोगों से रोक कर रखना, अन्याय से किसी वस्तु को न लेना, शरीर की पवित्रता, इन्द्रियों को विषय से रोकना, शास्त्र ज्ञान, आत्म ज्ञान, सत्य, क्रोध न करना, ये दश प्रकार के धर्म मनुष्य जाति के लिये समान रूप से उपदिष्ट हैं, अतः इन्हें मानव धर्म या साधारण धर्म कहते हैं।

इन साधारण धर्मों के सेवन से अन्तःकरण स्वयं पवित्र होजाता है और पवित्र अन्तःकरण होने से आत्म साक्षात्कार होता है, आत्म साक्षात्कार होने से परमपद आनन्द स्वरूप मोक्ष प्राप्त होजाता है। अतः प्रथम मनुष्य अपने में साधारण धर्म रखने का प्रयत्न करे।

सत्यमस्तेयमक्रोधो ह्रीः शौचं धीर्धृति दमः।
संयतेन्द्रियता विद्या धर्मः सर्व उदाहृतः॥
(याज्ञ० यति० ६६)

सत्य बोलना, चोरी न करना, क्रोध न करना, लज्जा, पवित्रता, बुद्धि, धैर्य, मन का नियंत्रण रखना, इन्द्रियों का नियंत्रण रखना, विद्याभ्यास ये सब के धर्म हैं।

सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमोदमः।
अहिंसा ब्रह्मचर्यं च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम्॥
संतोषः समदृक्सेवा ग्राम्येहोपरमः शनैः।
नृणां विपर्ययेहेक्षा मौनमात्म विमर्शनम्॥
अन्नाद्यादेः संविभागो भूतेभ्यश्च यथार्हतः।
तेष्वात्म देवता बुद्धिः सुतरां नृपु पाण्डव॥
श्रवणं कीर्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः।
सेवेज्यावनतिर्दास्यं सख्यमात्म समर्पणम्॥
नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः।
त्रिंशल्लक्षण वान्राजन्सर्वात्मा येन तुष्यति॥
(भाग० ७।११।८-१२)

अर्थ—सत्य, दया, तप, शौच, तितिक्षा, सत् असत् का विचार, शम, दम, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, दान, स्वाध्याय, सरलता, सन्तोष, समदृष्टि, साधुओं की सेवा, प्रवृत्ति विषयक कर्म से निवृत्ति, मनुष्यकृत सब कर्मों की निष्फलता का ज्ञान, वृथा वार्तालाप का त्याग, आत्म विचार, यथोचित रूप से प्राणियों को अन्नादि बाट कर खाना, सब प्राणियों में इष्टदेव परमात्मा को देखना, श्रीकृष्ण भगवान् के नाम और गुण सुनना, कीर्तन करना, स्मरण करना, हरि की सेवा-पूजा और प्रणाम करना, अपने को हरि का दास जानना और हरि को अपना सखा मानना एव हरि को आत्म समर्पण कर देना, इन तीस लक्षणों से युक्त सनातन धर्म सब ही मनुष्यों का साधारण धर्म है। इसके पालने से सर्वात्मा हरि प्रसन्न होते हैं।

चारो वर्णों के सामान्य धर्म।

अहिंसा सत्यमस्तेय शौचमिन्द्रिय निग्रह ।
एत सामासिक धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनु ॥

(मनु० १०।६३)

मन से, वचन से, शरीर से किसी प्राणी की हिंसा न करना, सत्य बोलना, अन्याय से दूसरों का धन न लेना, पवित्रता और इन्द्रियों का निग्रह (नियमण) यह संक्षेप में चारों वर्णों का धर्म मनुजी ने कहा है—

अहिंसा सत्यमस्तेयमकाम क्रोध लोभता।
भूत प्रिय हितेहाच धर्मोऽयं सार्ववर्णिकः ॥
(भाग० ११।१७।२१)

किसी प्राणी की हिंसा न करना, सत्य बोलना, अन्याय से किसी दूसरे का धन न लेना, काम, क्रोध, लोभ इन तीनों को छोड़ देना, सब प्राणी के प्रिय की और परिमाण में जिससे हित उसको इच्छा करना यह सब वर्णों का धर्म है।

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः।
दानं दया दमः चान्तिः सर्वेषां धर्म साधनम् ॥
(याज्ञ० गृह० २२)

हिंसा न करना, सत्य बोलना, चोरी न करना, पवित्र रहना, इन्द्रियों को वश में रखना, दान, दया, दम, (मन का संयम) और सहन शीलता ये गुण सब मनुष्यों के लिये धर्म प्राप्ति के साधन हैं।

* इति द्वितीय रत्न *

असाधारण विहित कर्म।

खास २ वर्णों या खास २ आश्रमों के लिये श्रुति, स्मृति में जो धर्म कहा गया है उसे असाधारण विहित कर्म कहते हैं। जैसे शास्त्रों में ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास इन आश्रमों के भिन्न २ धर्म बतलाये गये हैं। जैसे—

ब्रह्मचारी का असाधारण कर्म।

सेवेतेमांस्तु नियमान् ब्रह्मचारी गुरौ वसन्।
सन्नियम्येन्द्रिय ग्रामं तपो वृद्धयर्थमात्मनः ॥
(मनु० २।१७५)

ब्रह्मचारी गुरु के आश्रम में निवास करते हुए अच्छी तरह विषयों से इन्द्रियों को रोक कर तप की वृद्धि के लिये इन नियमों का पालन करें।

नित्य स्नात्वा शुचिः कुर्याद्देवर्षि पितृ तर्पणम्।
देवताभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च ॥
(मनु० २।१७६)

नित्य स्नान कर पवित्र हो देवता, ऋषि और पितरों का तर्पण करे और देवताओं का पूजन करे तथा गुरु के लिये होम की लकड़ी जंगल से लावे।

एकः शयीत सर्वत्र न रेतः स्कन्दयेत् क्वचित्।
कामाद्धि स्कन्दयन्रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः ॥
(मनु० २।१८०)

ब्रह्मचारी को चाहिये कि वह अकेला ही सर्वत्र सोवे, (किसी के साथ न सोवे) कभी वीर्यपात न करे, अपनी इच्छा से वीर्य गिराने से ब्रह्मचारी अपने व्रत को नष्ट करता है। अत ब्रह्मचर्य की रक्षा प्रधानत वीर्य (शुक्र) की रक्षा पर ही निर्भर है।

मुण्डो वा जटिलो वा स्यादथ वा स्याच्छिखा जटः।
नैन ग्रामेऽभि निम्लोचेत्सूर्यो नाभ्युदियात् क्वचित् ॥
(मनु० २।२१९)

ब्रह्मचारी मूड मुडाये हों, जटा रखाये हों अथवा शिखा की ही जटा बनाये हो। उन्हें सूर्योदय होने से पहले ग्राम में न आना चाहिये और सूर्यास्त होने से पहले ही ग्राम से चला जाना चाहिये, क्योंकि वह समय उनके लिये सन्ध्या वन्दन आदि नित्य कर्म करने का है। उस समय वह गुरु के पास आश्रम में ही रहें क्योंकि रात में उन्हें ग्राम में रहने का अधिकार नहीं है। सूर्योदय होने पर ग्राम में आवें, गुरु की भिक्षा आदि लेकर सूर्यास्त होने से पहले ही आश्रम मे चले जाय। ब्रह्मचारी के असाधारण कर्म (खास धर्म) मनुस्मृति द्वितीय अध्याय में १६४ श्लोक से २४८ श्लोक तक कहे गये हैं।

स्नानमब्दैवतैर्मन्त्रैर्मार्जनं प्राणसंयम.।
सूर्यस्य चाप्युपस्थानं गायत्र्या. प्रत्यहं जप.॥
(याज्ञ० ब्रह्म० २२)

स्नान, जिन मत्रों का देवता वरुण है उन वेद मत्रों से मार्जन, प्राणायाम, सूर्य का उपस्थान और गायत्री का जप प्रतिदिन करे।

सन्ध्यां प्राक् प्रातरेवेह तिष्ठेदा सूर्य दर्शनात्।
अग्नि कार्य ततः कुर्यात् सन्ध्ययोरुभयोरपि॥
(याज्ञ० ब्रह्म० २५)

प्रातःसन्ध्या की सूर्योदय पर्यन्त उपासना करे, फिर अग्नि कार्य (अग्नि होत्र) करे किन्तु अग्नि होत्र दोनों सन्ध्याओं में नियम पूर्वक करे।

मेखलाजिन दंडाक्ष ब्रह्मसूत्र कमण्डलू।
जटिलोऽधौतदद्वासोरक्त पीठः कुशान् दधत्॥
(भाग० ११।१७।२३)

मूंज की मेखला, कृष्णाजिन (मृग चर्म) दण्ड (पलाश वृक्ष की लकड़ी) माला, यज्ञोपवीत, कमण्डलु जटा इन सब को रखे, साफ कपड़ा रखे, लाल आसन न रखे और कुश को रखे।

रेतो नावकिरेज्जातु ब्रह्मव्रतधरः स्वयम्।
अवकीर्णेऽवगाह्याप्सु यतासुस्त्रिपदीं जपेत्॥
(भाग० ११।१७।२५)

कभी वीर्य (शुक्र) स्खलित न करे, ब्रह्मचारी का व्रत धारण करे, प्रमाद से स्वप्न में वीर्य स्खलित हो जाने पर जल से स्नान करे और प्राणायाम करके गायत्री का जप करे।

अग्न्यर्काचार्य गो विप्र गुरु वृद्ध सुराञ्शुचिः।
समाहित उपासीत सन्ध्ये च यतवागजपन्॥
(भाग० ११।१७।२६)

अग्नि, सूर्य, आचार्य, गाय, विप्र, गुरु, वृद्धजन, देवता इन सब की उपासना पवित्र होकर ब्रह्मचारी करे और मौन होकर सन्ध्या का जप करे।

स्त्रीणां निरीक्षण स्पर्श संलापक्ष्वेलनादिकम्।
प्राणिनो मिथुनीभूता न गृहस्थोऽग्रतस्त्यजेत्॥
(भाग० ११।१७।३३)

ब्रह्मचारी स्त्रियों का निरीक्षण न करे, उनका स्पर्श और उनसे संभाषण, परिहास आदि न करे और न एकान्त में एकत्रित स्त्री पुरुषों को देखे।

* इति तृतीय रत्न *

गृहस्थ के असाधारण कर्म (खास धर्म)

ऋतुकालाभिगामी स्यात् स्वदारनिरतः सदा ।
पर्व वर्जं व्रजेच्चैनां तद्व्रतो रतिकाम्यया ॥
(मनु० ३।४५)

गृहस्थ को (विवाहित पुरुष) को ऋतुकाल में ही स्त्री समागम करना चाहिये और सदैव अपनी स्त्री से ही संतुष्ट रहना चाहिये। पर्व दिन को छोड़कर रति की कामना से स्त्री समागम करे।

ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोड़श स्मृताः ।
चतुर्भिरितरैः सार्धमहोभिः सद्विगर्हितैः ॥
(मनु० ३।४६)

रज (शोणित) दर्शन से १६ रात्रि पर्यन्त स्त्री का ऋतुकाल कहा जाता है, उनमें प्रथम चार रात जो निन्दित हैं वे भी रात में सम्मिलित हैं, किन्तु उन चारों रातों में स्त्री का स्पर्श करना मना है। उतने समय तक स्त्री रजस्वला कहलाती है।

तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्दितैकादशी च याः ।
त्रयोदशी च शेषास्तु प्रशस्ता दश रात्रयः ॥
(मनु० ३।४७)

उन सोलह रातों में प्रथम चार रात और ग्यारहवीं और तेरहवीं रात स्त्री समागम में निषिद्ध है अर्थात् उन रातों में स्त्री का संग न करे। दिन में और सन्ध्या समय में तो बिलकुल ही निषिद्ध है, बाकी दश रात्रि में स्त्री समागम के लिये प्रशस्त है।

युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु ।
तस्माद्युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्तवे स्त्रियम् ॥
(मनु० ३।४८)

ऋतुकाल की सम रात्रि में (अर्थात् छठी, आठवीं, दशवीं, बारहवीं, चौदहवीं और सोलहवीं रात में) स्त्री के साथ समागम करने से पुत्र उत्पन्न होता है और विषम रात्रि में (पांचवीं, सातवीं, नवीं और पन्द्रहवीं रात में) स्त्री के साथ समागम करने से कन्या उत्पन्न होती है। प्रथम की चार रात तो बिलकुल ही निषिद्ध हैं और ग्यारहवीं तथा तेरहवीं भी निन्दित हैं।

पुमान्पुंसोऽधिके शुक्रे स्त्री भवत्यधिके स्त्रियाः ।
समेऽपमान्पुंस्त्रियौ वा क्षीणेऽल्पे च विपर्ययः ॥
(मनु० ३।४९)

पुरुष के वीर्य अधिक होने से विषम रात्रि में भी पुत्र और रज अधिक होने से सम रात्रिमें भी कन्या उत्पन्न होती है। पुरुष का वीर्य और स्त्री का रज दोनों तुल्य (बराबर) हो जाने से नपुंसक उत्पन्न होता है। अथवा (युग्म) कन्या और पुत्र दोनों साथ उत्पन्न होजाते हैं, दूषित अथवा अल्प वीर्य या रज के होने से गर्भ धारण नहीं होता।

निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन् ।
ब्रह्मचार्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन् ॥
(मनु० ३।५०)

पूर्वोक्त जो निन्दित छः रात हैं (ऋतु दर्शनों के शुरू से चार रात एवं ग्यारहवीं और तेरहवीं) उन रातों में स्त्री समागम न करे एवं अनिन्दित में भी आठ रातों को छोड दे, केवल किसी दो रातों में स्त्री समागम करे तो गृहस्थ भी ब्रह्मचर्यवत् समझा जाता है।

पच सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषएयुपस्करः ।
कएडनी चोद कुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन् ॥
(मनु० ३।६८)

गृहस्थ के लिये चूल्हा, चक्की, झाड़, ऊखल, मूसल, पानी का घडा ये पांचों हिंसा के स्थान हैं, इनके द्वारा गृहस्थ को हिंसा लगती है।

तासा क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महार्षिभिः ।
पंचक्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम् ॥
(मनु० ३।६९)

महर्षियों ने उन हिंसाओं के विनाश के लिये गृहस्थाश्रम वाले को प्रतिदिन पंच महा यज्ञ करने का आदेश दिया है।

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथि पूजनम् ॥
(मनु० ३।७०)

वेद का पठन पाठन ब्रह्म यज्ञ है, पितरों का तर्पण करना पितृ यज्ञ है, हवन करना देव यज्ञ है, अन्न का बलि देना भूत यज्ञ है और अतिथि का आदर करना नृयज्ञ है।

पंचैतान्यो महायज्ञान्न हापयति शक्तितः ।
स गृहेऽपि वसन्नित्यं सूनादोषैर्न लिप्यते ॥
(मनु० ३।७१)

जो गृहस्थ इन पांच यज्ञों को प्रतिदिन करता है वह घर में रहता हुआ भी हिंसा दोषों से लिप्त नहीं होता अर्थात् उसे हिंसा नहीं लगती है।

देवतातिथि भृत्यानां पितॄणामात्मनश्च यः ।
न निर्वपति पचानामुच्छ्वसन्न स जीवति ॥
(मनु० ३।७२)

जो गृहस्थ देवता, अतिथि, पोष्यवर्ग, माता, पिता और अपना संरक्षण नहीं करता है वह मास लेता हुआ भी जीवित नहीं है अर्थात् उसे मरा ही समझना चाहिये।

ऋषयः पितरो देवा भूतान्यतिथयस्तथा ।
आशासते कुटुम्बिभ्यस्तेभ्यः कार्यं विजानता ॥
(मनु० ३।८०)

ऋषि, पितृगण, देवता, जीव जन्तु और अतिथि ये सब गृहस्थ से कुछ पाने की आशा रखते हैं, इसलिये गृहस्थ को उचित है कि उन्हें यथा शक्ति संतुष्ट करें।

स्वाध्यायेनार्चयेतर्षीन् होमैर्देवान् यथाविधि ।
पितॄन् श्राद्धैश्च नॄनन्नैर्भूतानि बलि कर्मणा ॥
(मनु० ३।८१)

वेदाध्ययन से ऋषियों का, हवन से देवताओं का, श्राद्ध से पितरों का और अन्न से अतिथियों का, बलि कर्म से प्राणियों का यथा विधि सत्कार करे।

कुर्यादहरहः श्राद्धमन्नाद्येनोदकेन वा।
पयोमूल फलैर्वापि पितृभ्यः प्रीतिमावहन्॥
(मनु० ३।८२)

गृहस्थ अन्न आदि से या जल से या दूध से, फल-मूल से, पितरों के प्रीत्यर्थ नित्य श्राद्ध करे।

एकमप्याशयेद्विप्रं पित्रर्थे पांचयज्ञिके।
न चैवात्राशयेत्कंचिद् वैश्वदेवं प्रति द्विजम्॥
(मनु० ३।८३)

उक्त पंच यज्ञ के अन्तर्गत पितरों के निमित्त कम से कम एक ब्राह्मण को अवश्य भोजन करावे। किन्तु वैश्वदेव के लिये ब्राह्मण भोजन कराने की आवश्यकता नहीं है।

वैश्वदेवस्य सिद्धस्य गृह्येऽग्नौ विधिपूर्वकम्।
आभ्यः कुर्याद्देवताभ्यो ब्राह्मणो होममन्वहम्॥
(मनु० ३।८४)

वैश्वदेव के निमित्त पकाये गये अन्न से गार्हपत्य (यज्ञिय आग्नेय) में इन देवताओं के लिये प्रतिदिन ब्राह्मण हवन करे। वैश्वदेव की विधि मनुस्मृति में तृतीय अध्याय के ८४ श्लोक से ९४ श्लोक तक लिखी गयी है, जिज्ञासु को उसे देख लेना चाहिये।

वशेकृत्वेन्द्रिय ग्राम सयम्य च मनस्तथा।
सर्वान् ससाधयेदर्थादनक्षिरवन्योगतस्तनुम् ॥
(मनु० २।१००)

सब इन्द्रियों को रोक कर और मन को भी अपने वश में रखकर शरीर को कष्ट नहीं देता हुआ अर्थात् यथा शक्ति सब पुरुषार्थों का साधन करे।

पूर्वां सन्ध्या जप स्तिष्ठेत्सावित्री मार्क दर्शनात्।
पश्चिमा तु समासीन. सम्यगृक्षविभावनात् ॥
(मनु० २।१०१)

प्रात काल की सन्ध्या में पूर्वाभिमुख खड़े होकर जब तक सूर्य का दर्शन न हो तब तक गायत्री मन्त्रका जप करे और साय काल की सन्ध्या में पश्चिमाभिमुख बैठकर जब तक तारे न दीख पड़े तब तक गायत्री मन्त्र का जप करे।

पूर्वां सन्ध्या जप तिष्ठन्नैशमेनो व्यपोहति।
पश्चिमातु समासीनो मलहन्ति दिवा कृतम् ॥
(मनु० २।१०२)

खड़ा होकर प्रात काल की सन्ध्या में गायत्री जपने वाला द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) रात्रि में किये गये पापों को दूर कर देता है और सायकाल यथा विधि बैठकर सन्ध्या करने वाला दिन के किये हुए पापों का विनाश करता है।

न तिष्ठति तु य पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्।
स शूद्रवद्बहिष्कार्य: सर्वस्माद्द्विज कर्मण. ॥
(मनु० २।१०३)

जो द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) प्रातःसन्ध्या और सायं सन्ध्या नहीं करता है उसे सभी द्विज के कर्मों से शूद्र की तरह बाहर कर देना चाहिये अर्थात् सन्ध्या रहित द्विज का द्विजत्व विनष्ट हो जाता है।

अपां समीपे नियतो नैत्यकं विधिमास्थितः ।
सावित्रीमप्यधीयीत गत्वारण्यं समाहितः ॥
(मनु० २।१०४)

निर्जन वन में जाकर जल के समीप यथा विधि नित्य कर्म करके मन को रोक कर गायत्री मंत्र का जप करे।

सन्ध्यामुपास्ते येतु नियतं शंसित व्रता ।
विधूत पापास्ते यान्ति ब्रह्मलोकमनामयम् ॥

जो यथा विधि सन्ध्या की उपासना करते हैं वे पाप रहित होकर अक्षय ब्रह्मलोक को प्राप्त करते हैं। दीर्घकाल तक श्रद्धा और निष्काम भाव से यथा विधि उपर्युक्त कर्म करने से गृहस्थ का अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है और अन्तःकरण शुद्ध हो जाने से आत्म-ज्ञान की निष्ठा उत्पन्न हो जाती है वह दृढ़ हो जाने से परम पद मोक्ष प्राप्त हो जाता है। गृहस्थ द्विज को अपने उपर्युक्त कर्म का पालन करना अनिवार्य है। इस प्रकार गृहस्थ का संक्षेप में धर्म का कथन किया है।

वेदार्थन पुराणानि सेतिहासानि शक्तित् ।
जप यज्ञ प्रसिद्धयर्थं विद्यां चाध्यात्मिकीं जपेत् ॥
(याज्ञ० गृह० १)

वेद अथर्व आदि पुराण इतिहास, अपनी शक्ति के अनुसार अध्यात्म विद्या का जप गृहस्थ करे।

बलि कर्म स्वधा होम स्वाध्यायातिथि सत्क्रिया ।
भूतपितृपरब्रह्म मनुष्याणा महामखाः ॥
(याज्ञ० गृह० २)

बलि वैश्वदेव स्वधा (तर्पण और श्राद्ध) होम, स्वाध्याय, (सत् शास्त्रोंका अध्ययन) अतिथिका सत्कार, ये पाचो भूत, पितृ, देव, ब्रह्म और मनुष्यों के महायज्ञ कहलाते हैं। गृहस्थ य पाचा यज्ञ अवश्य करें।

बालस्ववासिनी वृद्धगर्भिण्यातुरकन्यकाः ।
सम्भोज्यातिथि भृत्याश्च दम्पत्योः शेषभोजनम् ॥
(याज्ञ० गृह० ५)

बालक, सुहागिनी, वृद्ध, गर्भिणी, आतुर, कन्या, अतिथि और भृत्यों को खिलाकर बचा हुआ अन्न स्त्री पुरुष स्वय भोजन करे ।

भार्या रति शुचिर्भृत्य भर्ता श्राद्ध क्रियारत. ।
नमस्कारेण मत्रेण पचयज्ञान्न हापयेत् ॥
(याज्ञ० गृह० २१)

गृहस्थ अपनी स्त्री में ही रत रहे, पवित्र रहे, भृत्यों का पालन करे, पितरों का श्राद्ध करे, सिर्फ नमस्कार करके पच यज्ञों को न छोड़े अर्थात् पच यज्ञ अवश्य करे।

न्यायागत धनस्तत्त्व ज्ञाननिष्ठोऽतिथि प्रियः ।
श्राद्धकृत् सत्यवादी च गृहस्थोपि हि मुच्यते ॥
(याज्ञ० यति० २०५)

धर्म से धन कमाने वाला, तत्त्वज्ञान में निष्ठा रखने वाला, अतिथि का सत्कार करने वाला, पितरों का श्राद्ध करने वाला, सत्य बोलने वाला, ऐसा यदि गृहस्थ भी हो तो वह मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

सानन्द सदन सुताश्च सुधियः कान्ता प्रियालापिनी ।
इच्छा पूर्ति धनं स्वयोषिति रति. स्वाज्ञापराः सेवकाः ॥
आतिथ्य शिव पूजनं प्रतिदिनं मिष्टान्नपान गृहे ।
साधोः संग उपास्यते च सततं धन्यो गृहस्थाश्रमः ॥
(चाणक्य नीतिः)

घर में सुख रहे, लडके पडित रहें, स्त्री मीठी बोलती हो, इच्छा के अनुसार धन रहे, अपनी स्त्री में ही प्रेम हो, नौकर आज्ञा को पालन करते हों, अतिथि का सत्कार, शिवजी का पूजन, प्रतिदिन मिष्टान्न भोजन और दुग्ध पान होता रहे, साधु पुरुषों का संग सदैव रहे तो ऐसे गृहस्थाश्रम धन्य हैं।

येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः ।
तेन यायात् सता मार्ग गच्छन्न रिष्यति ॥
(मनु० ४।१७८)

पिता, पितामह (दादा) प्रपितामह (परदादा) जिस मार्ग से गये हों उस मार्ग से ही मनुष्य को चलना चाहिये, वही सज्जनों का मार्ग है, उस मार्ग से चलने पर दोष नहीं हो सकता किन्तु ध्यान में रखना चाहिये कि यदि उस मार्ग की श्रुति-स्मृति में निन्दा न की गयी हो तो उस मार्ग में जाना चाहिये यदि विरुद्ध हो तो भूलकर भी नहीं जाना चाहिये।

वेदाध्याय स्वधा स्वाहा वल्यन्नाद्यैर्यथोदयम् ।
देवर्षिपितृभूतानि मद्रूपाण्यन्वहं यजेत् ॥
(भाग० ११।१७।५०)

गृहस्थ मनुष्य को चाहिये कि यथा शक्ति वेदाध्ययन, स्वधा, स्वाहा, बलि वैश्वदेव और अन्नदान करता हुआ नित्य देवता, पितर, ऋषि और सब प्राणियों को मेरा ही रूप समझ कर पूजे।

यदृच्छयोपपन्नेन शुक्लेनोपार्जितेन वा ।
धनेनापीडयन् भृत्यान्न्यायेनैवाहरेत्क्रतून् ॥
(भाग० ११।१७।५१)

धर्म से विना अधिक परिश्रम किये ही जो धन मिल जाय उस न्याय पूर्वक उपार्जित धन से ही भृत्यों को तकलीफ न देते हुए यज्ञों को करे।

कुटुम्बेषु न सज्जेत न प्रमाद्येत्कुटुम्ब्यपि ।
विपश्चिन्नश्वरं पश्येतद् दृष्टमपि दृष्टवत् ॥
(भाग० ११।१७।५२)

अपने परिवारो में भी आसक्त न होना चाहिये, सपरिवार होकर भी प्रमाद न करना चाहिये। विद्वान् पुरुष को प्रत्यक्ष को भी अप्रत्यक्ष की तरह नाशवान् देखना चाहिये।

पुत्र दाराप्त बन्धूनां संगमः पान्थ संगमः ।
अनुदेहं वियन्त्येते स्वप्नो निद्रानुगो यथा ॥
(भाग० ११।१७।५३)

पुत्र, स्त्री, विश्वासी बन्धुओं का जो समागम है वह बटोही के समागम के समान है। देह के पीछे ये सब परिवार लगे ही रहते हैं, निद्रा के पीछे जैसे स्वप्न लगा रहता है अर्थात् जैसे निद्रा होने पर स्वप्न हो ही जाता है, वैसे शरीर धारण करने पर पुत्र स्त्री परिवार होते ही रहते हैं।

इत्थं परिमृशन्मुक्तो गृहेष्वतिथि वद्वसन् ।
न गृहैरनुबध्येत निर्ममो निरहंकृतः ॥
(भाग० ११।१७।५४)

इस प्रकार विचार करता हुआ, गृह में भी अतिथि की तरह अनासक्त भाव से रहता हुआ गृहस्थ मोक्ष को प्राप्त कर लेता है, ममता और अहकार से रहित गृहस्थ गृहों में बद्ध नहीं होता।

कर्मभिर्गृह मेधीयैरिष्ट्वा मामेव भक्तिमान् ।
तिष्ठेद्वनं वोपविशेत्प्रजावान्वा परिव्रजेत् ॥
(भाग० ११।१७।५५)

भक्तिमान् गृहस्थ गृह में करने योग्य जो पंच महा यज्ञ हैं उन यज्ञों से विष्णु भगवान् का ही यज्ञ करके घर में ही रहे अथवा पुत्र उत्पन्न होने के बाद वानप्रस्थ आश्रम में वन में चला जाय अथवा संन्यास आश्रम ग्रहण कर ले। गृहस्थकी अभिरुचि पर यह निर्भर है।

आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः।
माता पृथिव्या मूर्तिस्तु भ्रातास्वो मूर्तिरात्मनः॥
(मनु० २।२२६)

आचार्य ब्रह्म की मूर्ति है, पिता ब्रह्मा की मूर्ति है, माता पृथिवी की मूर्ति है और सहोदर (सगा) भाई अपनी आत्माकी मूर्ति है अतः इनका कभी अनादर नहीं करना चाहिये।

यं माता पितरौ क्लेश सहेतेसम्भवे नृणाम्।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्ष शतैरपि॥
(मनु० २।२२७)

सन्तानों की उत्पत्ति में माता पिता को जो क्लेश सहन करना पड़ता है उससे सैकड़ों वर्षों में भी सन्तान निस्तार नहीं पा सकती।

तयोर्नित्यं प्रिय कुर्यादाचार्यस्य च सर्वदा।
तेष्वेव त्रिपु तुष्टेषु तपः सर्वं समाप्यते॥
(मनु० २।२२८)

माता पिता तथा आचार्य का सदैव प्रिय कार्य करना चाहिये उन तीनों के प्रसन्न रहने पर समस्त तपस्या होजाती है।

तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तप उच्यते ।
न तैरभ्यननुज्ञातो धर्ममन्यं समाचरेत् ॥
(मनु० २।२२९)

इन तीनों की सेवा करना परम तप है, उनकी आज्ञाके विना दूसरा धर्म नहीं करना चाहिये ।

इमं लोकं मातृ भक्त्या पितृ भक्त्या तु मध्यमम् ।
गुरुशुश्रूषया त्वेव ब्रह्मलोकं समश्नुते ॥
(मनु० २।२३३)

माता की भक्ति करने से इस लोक के और पिता की भक्ति करने से मध्य लोक के और गुरु की भक्ति करने से ब्रह्म लोक के सुख को मनुष्य प्राप्त करता है ।

सर्वे तस्यादृता धर्मा यस्यैते त्रय आदृताः ।
अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्या फलाःक्रियाः ॥
(मनु० २।२३४)

जिसके ये तीन अर्थात् माता, पिता और गुरु सन्मानित होते हैं उनके सभी धर्म सन्मान युक्त होते हैं और जो माता, पिता, गुरु का आदर नहीं करते उनके सब कार्य निष्फल हैं ।

यावत् त्रयस्ते जीवयुस्तावन्नान्यं समाचरेत् ।
तेष्वेव नित्यं शुश्रूषां कुर्यात् प्रियहिते रतः ॥
(मनु० २।२३५)

जब तक यह तीनों जीवित रहें तब तक अन्य कार्य नहीं करना चाहिये, उनके ही प्रिय और हित कार्य में रत होकर उनकी सेवा करनी चाहिये।

पिता माता तथा भ्राता सम्बन्धी शिक्षायें।

राजा ययातिने अपने छोटे पुत्र पूरुको कहा कि हे पुत्र! तुम मेरा बुढ़ापा लेलो। जब इस प्रकार राजा ययाति ने कहा, तब पूरु ने कहा कि—

को नु लोके मनुष्येन्द्र पितुरात्मकृतः पुमान्।
प्रतिकर्तुं क्षमो यस्य प्रसादाद्विन्दते परम्॥
(भाग० ९।१८।४३)

हे मनुष्येन्द्र! इस लोक में कोई पुरुष भी पिताका प्रत्युपकार नहीं कर सकता। पिता क्या साधारण पुरुष है, क्योंकि उनसे देह का सम्बन्ध है और उनकी प्रसन्नता से पुरुष परम गति को प्राप्त होता है।

उत्तमश्चिन्तितं कुर्यात्प्रोक्तकारी तु मध्यमः।
अधमाऽश्रद्धया कुर्यादकर्तोच्चरितं पितुः॥
(भाग० ९।१८।४४)

जो पुत्र पिता का विचारा हुआ कार्य अपने आप ही कर देता है वह उत्तम कहलाता है, जो आज्ञा पाकर कार्य करता है वह मध्यम है, जो आज्ञा पाकर भी उस कार्य

को अश्रद्धा से करता है वह पुत्र नहीं किन्तु पिता की विष्ठामात्र है और नीच कहलाता है।

इति प्रमुदितः पूरुः प्रत्यगृह्णाज्जरां पितुः ।
सोऽपि तद्वयसा कामान्यथावज्जुजुषे नृपः ॥
(भाग० ९।१८।४५)

इस प्रकार कहके हर्ष प्रकाश करते हुए उसने पिता की जरा अवस्था ग्रहण कर ली। राजा ययाति अपने पुत्र की युवा अवस्था को पाकर भली भांति सुख भोग करने लगा। कई एक दिन तक राजा ययाति ने विषय भोग भोगे, पीछे उसको वैराग्य हो गया तब अपनी स्त्री से ययाति कहता है—

दृष्टं श्रुतमसद्बुद्ध्वा नानुध्यायेन्न संविशेत् ।
संसृतिंचात्मनाशं च तत्र विद्वान्स आत्मदृक् ॥
(भाग० ९।१९।२०)

हे प्रिये, जो पुरुष देखे सुने विषयों को असत् जानकर उनका अनुध्यान व भोग छोड़ देते हैं, तथा ये वारम्वार संसार को प्राप्त कराने वाले और आत्मनाशक है जानता है वही पंडित और आत्मदर्शी हैं।

इत्युक्त्वा नाहुषो जायां तदीयं पूरवे वयः ।
दत्त्वा स्वां जरसं तस्मादाददे विगतस्पृहः ॥
(भाग० ९।१९।२१)

श्रीशुकदेवजी बोले कि, हे परीक्षित, राजा ययाति ने इस प्रकार अपनी स्त्री को समझा कर छोटे पुत्र

अवस्था लौटा कर उससे अपनी जरा अवस्था ग्रहण करली; फिर राजा ययाति को कुछ चाहना नहीं रही इस प्रकार पूरु राजा अपने पिता ययाति का बड़ा भक्त था। भगवान् रामचन्द्रजी भी कैसे भक्त थे कि पिता की आज्ञा से चौदह वर्ष बनवास चले गये। भगवान् रामचन्द्रजी कहते हैं—

अतोपयन्महाराजमकुर्वन्वा पितुर्वचः।
मुहूर्तमपि नेच्छेयं जीवितुं कुपिते नृपे॥
(वाल्मीक १८।१५)

महाराज (दशरथ) का कहना न मानकर उनको असन्तुष्ट एवं कुपित कर मैं एक मुहूर्त भी जीना नहीं चाहता।

यतोमूलं नरः पश्येत्प्रादुर्भावमिहात्मनः।
कथं तस्मिन्न वर्तेत प्रत्यक्षे सति दैवते॥
(वाल्मीक १८।१६)

जिन पिता माता से मनुष्य की उत्पत्ति होती है, उन प्रत्यक्ष देवताओं की आज्ञा क्यों नहीं मानी जाय? अर्थात् उनकी आज्ञा को अवश्य माने।

न ह्यतो धर्म चरणं किञ्चिदस्तिं महत्तरम्।
यथा पित्रादि शुश्रूषा तस्यवावचन क्रिया॥
(वाल्मीक १९।२२)

पिता आदि की सेवा और उनकी आज्ञा का पालन करने से बढ़कर संसार में दूसरा कोई धर्माचरण है ही नहीं।

देवगन्धर्व गोलोकान्ब्रह्मलोकांस्तथा नराः ।
प्राप्नुवन्ति महात्मानो मातापितृपरायणाः ॥
(वाल्मीक ३०/३७)

जो महात्मा लोग माता पिता की सेवा किया करते हैं उनको देव लोक, गन्धर्व लोक, गो लोक, ब्रह्मलोक तथा अन्य लोकों की भी प्राप्ति होती है।

पिताहि दैवतं तात देवतानामपि स्मृतम् ।
तस्माद्दैवतमित्येव करिष्यामि पितुर्वचः ॥
(वाल्मीक ३४/५२)

हे तात ! पिता देवताओं के भी देवता होते हैं इसलिये आपको परम देवता समझ मैं आपकी आज्ञा का पालन करूंगा। इस प्रकार माता पिता की भक्ति का बड़ा महत्व है। जो माता पिता का अनादर करता है वह पुरुष इस लोक तथा परलोक दोनों जगह दुःख पाता है। माता पिता का अनादर करने से इस लोक में लोग निन्दा करते हैं तथा स्वय दुःख पाता है और परलोक में नरक को प्राप्त होता है। अतः प्रमाद, आलस्य, अभिमान रहित होकर श्रद्धा और प्रेम से माता पिता की सेवा करनी चाहिये, इस सेवा से इस लोक में सर्व तरह सुखी रहता है, परलोक में उत्तम लोक को प्राप्त होता है तथा सर्व लोग उसकी प्रशसा करते हैं। माता पिता की सेवा करना अत्यन्त आवश्यक है। रामचन्द्रजी, भीष्मजी, पूरु, परशुराम, रोहिताश्व आदि माता पिता के बड़े भक्त हुए हैं, मनुष्यों को उनका अनुकरण

करना चाहिये। इस प्रकार बडे भ्राता (भाई) की भी सेवा करना अत्यन्त आवश्यक है। वनवास में जाते समय लक्ष्मणजी कहते हैं कि—

न देवलोकाक्रमण नामरत्वमह वृणे ।
ऐश्वर्यंवाऽपि लोकाना कामये न त्वया विना ॥
(वाल्मीक ३१।५)

श्रीरामचन्द्रजी, आपको छोड न तो मुझे देवलोक की, न अमरत्व की और न अन्य लोकों के ऐश्वर्य की चाहना है।

मातृ देवो भव, पितृ देवो भव, आचार्य देवो भव।
माता का भक्त हो, पिता का भक्त हो गुरु का भक्त हो।

* इति चतुर्थ रत्न *

पुत्र महिमा।

शास्त्र में कहा है कि गृहस्थ शास्त्रोक्त रीति से अपनी व्याही स्त्री से पुत्र उत्पादन करे, क्योंकि पुत्र के द्वारा किये गये एकोद्दिष्ट, पार्वण, गया श्राद्ध आदि कर्म से पिता को उत्तम लोक की प्राप्ति होती है। गरुड़ पुराण के चौदहवें अध्याय में श्रीकृष्ण और गरुड़ के संवाद में कहा है—

अपुत्रस्य गतिर्नास्ति स्वर्गे खग कथंचन।
तस्मात्केनाप्युपायेन पुत्रस्य जननं चरेत्॥
(गरुड़ पु० अ० १४)

हे गरुड़! पुत्र नहीं उत्पन्न होने से स्वर्ग में जीव की गति नहीं होती, अतः पुत्र उत्पन्न करने की कोशिश अवश्य करनी चाहिये। पूर्व में कई राजा लोगों ने शास्त्राज्ञा का पालन करते हुए अपने हित की चाहना से पुत्र उत्पन्न किया था।

स्वक्षेत्रे संस्कृतायां तु स्वयमुत्पादयेद्धियम्।
तमौरसं विजानीयात् पुत्रं प्रथम कल्पितम्॥
(मनु० ९।१६६)

शास्त्र की रीति से विवाहिता स्त्री से स्वयं पति जिस पुत्र को उत्पन्न करे उसे औरस पुत्र कहते हैं और औरस पुत्र अन्य सब प्रकार के पुत्रों से श्रेष्ठ है।

यस्मिन्नृणं संनयति येन चानन्त्यमश्नुते ।
स एव धर्मजः पुत्र. कामजानितरान् विदुः ॥
(मनु० ९।१०७)

जिस पुत्र के जन्म लेने से उसका पिता पितृ ऋण से मुक्त होता है और जिस पुत्र के द्वारा मोक्ष प्राप्त कर लेता है वही धर्मज्ञ (धर्म से उत्पन्न) पुत्र है अन्य पुत्रों को महर्षियों ने कामज (काम से उत्पन्न) कहा है—

पुत्रेण लोकाञ्जयति पौत्रेणानन्त्यमश्नुते ।
अथ पुत्रस्य पौत्रेण ब्रध्नस्याप्नोति विष्टपम् ॥
(मनु० ९।१३७)

पुत्र के जन्म होने से पिता को परलोक में स्वर्ग आदि उत्तम लोक प्राप्त होते हैं और पौत्र के उत्पन्न होने से चिरकाल तक उत्तम लोक में अवस्थिति होती है तथा प्रपौत्र उत्पन्न होने से पिता को सूर्य लोक की प्राप्ति होती है।

पुंनाम्नो नरकाद्यस्मात् त्रायते पितरं सुतः ।
तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयंभुवा ॥
(मनु० ९।१३८)

जिस लिये पुत्र "पु" नाम के नरक से पिता का उद्धार करता है अतः स्वयं ब्रह्मा ने उसका नाम पुत्र रखा।

पौत्र दौहित्रयोर्लोके विशेषो नोपपद्यते ।
दौहित्रोऽपि ह्यमुत्रैनं सन्तारयति पौत्रवत् ॥
(मनु० ९।१३९)

संसार में पौत्र और दौहित्र में कुछ भी विशेषता नहीं है, दौहित्र भी पौत्र की तरह परलोक में पिता का उद्धार करता है। इस प्रकार महर्षियों ने पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र और दौहित्र की बहुत प्रशंसा की है। शास्त्र विधि से विवाह किये बिना पितृ ऋण से मुक्त करने वाला तथा कुल वर्द्धक बालक उत्पन्न नहीं हो सकता।

विवाह के लिये उपयुक्त कन्या।

अव्यंगांगीं सौम्यनाम्नीं हंस वारण गामिनीम्।
तनु लोम केश दशनां मृद्वंगीमुद्वहेत् स्त्रियम्॥

(मनु० ३।१०)

जिसका कोई अंग बिगड़ा न हो, सुन्दर नाम हो, हंस या हाथी की तरह मन्द चाल हो सूक्ष्म रोम और केश हों, छोटे दांत वाली हो और कोमलाङ्गी हो उस कन्या से विवाह करना चाहिये। "सवर्णाग्रे द्विजातीनां प्रशस्तादार कर्मणि" ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य को प्रथम सवर्णा कन्या ही प्रशस्त है। ब्राह्मण के लिये ब्राह्मण की कन्या, क्षत्रिय के लिये क्षत्रिय जाति की कन्या, वैश्य के लिये वैश्य जाति की कन्या सवर्णा कन्या कहलाती है।

असपिण्डा च या मातु रस गोत्रा च या पितुः।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दार कर्मणि मैथुने॥

(मनु० ३।५)

जो कन्या (वर की) माता की सात पीढी के भीतर न हो वर के पिता के सगोत्र (एक गोत्र) न हो उस कन्या से द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) व्याह करे और सन्तान उत्पादन करे।

दश पूर्वान् परान्वंश्यानात्मान चैक विंशकम्।
ब्राह्मी पुत्र. सुकृतकृन्मोचयेदेनस. पितृन् ॥
(मनु० ३।३७)

ब्राह्म विवाह से उत्पन्न पुत्र यदि धर्मचारी हो तो वह अपने से दश पीढी पीछे और दश पीढी अपने से आगे का और अपना इस प्रकार इक्कीस पीढी का उद्धार करता है।

दैवोढाज सुतश्चैव सप्त सप्त परावरान्।
आर्षोढाजः सुत स्त्रीं स्त्रीन्षट्‌षट् कायोढजः सुतः ॥
(मनु० ३-३८)

दैव विवाह के अनुसार विवाहिता स्त्री से उत्पन्न पुत्र सात पीढी पीछे और सात पीढी आगे का उद्धार करता है, आर्ष विवाह से उत्पन्न पुत्र तीन पीढी पीछे का और तीन पीढी आगे का उद्धार करता है, प्राजापत्य विवाह से उत्पन्न पुत्र छ पीढी पीछे का और छ' पीढी आगे का उद्धार करता है।

ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथा सुरः।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधम. ॥
(मनु० ३।२१)

ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस, पैशाच इस प्रकार आठ प्रकार के विवाह होते हैं। इन विवाहों के नाम

से ही श्रेष्ठता और हीनता समझनी चाहिये। ब्रह्मदेव की तरह जो हो उसे ब्राह्म कहते हैं। राक्षस की तरह जो हो उसे राक्षस कहते हैं इस प्रकार समझना चाहिये।

आच्छाद्य चार्चयित्वा च श्रुति शीलवते स्वयं।
आहूय दानं कन्याया ब्राह्मो धर्म: प्रकीर्तित: ॥
(मनु० ३।२७)

विद्वान् और आचार निष्ठ वर को स्वयं बुलाकर वस्त्र और अलकार से यथा शक्ति कन्या वर का सत्कार करके जो संकल्प करके कन्या दान किया जाता है उसे ब्राह्म विवाह कहते हैं।

यज्ञे तु वितते सम्यक् ऋत्विजे कर्म कुर्वते।
अलंकृत्य सुता दानं दैवं धर्मं प्रचक्षते ॥
(मनु० ३।२८)

ज्योतिष्टोमादि यज्ञ प्रारम्भ होने पर यथा विधि ऋत्विक (यज्ञ करने वाले ब्राह्मण) को अलंकार देकर उसे कन्या देना दैव विवाह है।

एकं गो मिथुन द्वे वा वरादादाय धर्मत: ।
कन्या प्रदानं विधिवदार्षो धर्म: स उच्यते ॥
(मनु० ३।२९)

एक गाय और एक बैल अथवा दो गाय और दो बैल यज्ञादि धर्म कार्य सम्पादन के लिये वर से लेकर उसे शास्त्र रीति से कन्या देना आर्ष विवाह कहलाता है।

सहोभौ चरतां धर्ममिति वाचानुभाष्य च।
कन्या प्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधिः स्मृतः ॥
(मनु० ३।३०)

आप दोनो अर्थात् पति पत्नी साथ धर्म कार्य करें इस प्रकार कन्या दान काल मे प्रतिज्ञा करा के सत्कार पूर्वक जो कन्या देना है उसे प्राजापत्य विवाह कहते हैं।

ज्ञातिभ्योद्रविणं दत्त्वा कन्यायै चैव शक्तितः।
कन्या प्रदान स्वाच्छन्द्यादासुरो धर्म उच्यते ॥
(मनु० ३।३१)

कन्याके पिता आदि परिवारों को और कन्या को यथा शक्ति धन देकर जो कन्या का ग्रहण करता है उसे आसुर विवाह कहते हैं। शास्त्र के अनुसार धन, जाति परिमाण इन सभी का नियम नहीं रहता है, यह केवल स्वेच्छा से किया जाता है।

इच्छयान्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च।
गान्धर्वः सतु विज्ञेयो मैथुन्यः काम सम्भवः ॥
(मनु० ३।३२)

कन्या और वर दोनों के परस्पर प्रेम से जो परस्पर आलिंगन आदि संयोग होजाता है उसे गान्धर्व विवाह कहते हैं। यह विवाह दोनों की अभिलापा से होता है और यह मैथुन के लिये किया जाता है।

हत्वा छित्वा च भित्वा च क्रोशन्तीं रुदतीं गृहात्।
प्रसह्य कन्या हरणं राक्षसो विधिरुच्यते ॥
(मनु० ३।३३)

बलात्कार से जो कन्या का हरण करता है उसे राक्षस विवाह कहते हैं। यदि कन्या क परिवार के लोग लडाई करने के लिये खडे हो जाय तो उन्हें मारकर उनके अगों को काट कर उनके मकान आदि को तोडकर, हा पिता! हा भाई! मैं अनाथ होकर हरण की जाती हू, इस प्रकार आक्रोश करती और रोती हुई कन्या को गृह से बल पूर्वक अपहरण करना राक्षस विवाह है।

सुप्तां मत्ता प्रमत्ता वा रहो यत्रोपगच्छति।
स पापिष्ठो विवाहाना पैशाचश्चाष्टम स्मृत ॥
(मनु० ३ ३४)

सोई हुई कन्या को देखकर या नशा मे या वेहोश देखकर उस कन्या को एकान्त स्थान में उसके साथ जो व्यभिचार करता है उसे पैशाच विवाह कहते हैं। यह सब विवाहो में निकृष्ट है, क्योंकि इस विवाह से बहुत पाप होते हैं।

सन्तुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्य कल्याण तत्र वै ध्रुवम्॥
(मनु० ३।६०)

जिस कुल में स्त्री से स्वामी और स्वामी से स्त्री प्रसन्न रहती है उस कुल में सदैव कल्याण रहता है। इस प्रकार मनु ने और अन्य महर्षियों ने सत् कुल की सदाचारवती कन्या से शास्त्रोक्त रीति से विवाह करने से धर्म होता है और उस स्त्री के पुत्र से

पिता आदि को उत्तम लोक की प्राप्ति होती है ऐसा कहा है। अतःगृहस्थ आश्रम सब आश्रमों का रक्षक है।

यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्व जन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः॥
(मनु० ३।७७).

जैसे वायु के आश्रय से ही सब प्राणी जीवन धारण करते हैं वैसे ही सब आश्रम गृहस्थ के आश्रय लेकर जीवित रहते हैं।

यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम्।
गृहस्थे नैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही॥
(मनु० ३।७८)

तीनों आश्रमी (ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ, संन्यासी) वेदार्थ के व्याख्यान और अन्नदान के द्वारा गृहस्थों से ही उपकृत होते हैं, अतः सब आश्रमों में गार्हस्थ आश्रम ही बड़ा है, इसलिये गार्हस्थ आश्रम की रक्षा करना अत्यन्त आवश्यक है। उसकी रक्षा तभी हो सकती है जब उसके अंगभूत स्त्री, पुत्र, धन की रक्षा हो जाय। मनुष्य स्त्री, पुत्र, धन आदि की प्राप्ति के साधक काम्य कर्म का भी अनुष्ठान कर सकता है।

वानप्रस्थ आश्रम के असाधारण धर्म।

एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत् स्नातको द्विजः।
वने वसेत्तु नियतो यथावद्विजितेन्द्रियः॥
(मनु० ६।१).

स्नातक द्विज अर्थात गार्हस्थ्य में दीक्षित ब्राह्मण, क्षत्रिय वा वैश्य शास्त्रोक्त विधि से इस प्रकार गार्हस्थ्य आश्रम के धर्म का पालन कर पश्चात् जितेन्द्रिय होकर नियम पूर्वक धर्मका अनुष्ठान करता हुआ वन में निवास करे।

गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत् ॥
(मनु० ६।२)

गृहस्थ जब देखे कि अपने बाल (केश) सफेद हो चुके हैं, अपने पुत्र के भी पुत्र हो चुके हैं तब वन का आश्रय ले ले।

सत्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदम्।
पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत्सहैव वा ॥
(मनु० ६।३)

ग्राम्य भोजन (चावल, दाल आदि) और वस्त्रालंकारादि को त्याग कर स्त्री को पुत्रों के सुपुर्द कर अथवा उसे अपने साथ लेकर वन में चला जाना चाहिये।

अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्नि परिच्छदम्।
ग्रामादरण्यं निःसृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः ॥
(मनु० ६।४)

घर के होमाग्नि और उसके उपकरण आदि लेकर गांव से बाहर निकल कर जितेन्द्रिय होकर वन में निवास करे।

मुन्यन्नैर्विविधैर्मेध्यै शाक मूल फलेन वा ।
एतानेव महा यज्ञान्निर्वपेद्विधि पूर्वकम् ॥
(मनु० ६।५)

वानप्रस्थ होने पर वन में नीवार आदि (मोगर के चावल आदि) जो ऋषि के खाने के योग्य पवित्र अन्न है उनसे या शाक या फल मूलों से गृहस्थ धर्म प्रकरण में उक्त पच महायज्ञ हैं उनको विधि पूर्वक करे ।

वसीत चर्म चीर वा साय स्नायात् प्रगे तथा ।
जटाश्च विभृयान्नित्य श्मश्रु लोम नखानि च ॥
(मनु० ६।६)

मृग चर्म या वल्कल पहने और प्रात काल एव सायकाल स्नान करे जटा, दाढी, मूछ, लोम (रोए) नखों का धारण करे अर्थात् वानप्रस्थ आश्रम लेने पर हजामत कभी न करावे ।

यद्भक्ष्य स्यात्ततो दद्यात् बलिं भिक्षा च शक्तित ।
अम्मूल फल भिक्षाभिरर्चयेदाश्रमागतान् ॥
(मनु० ६।७)

इस आश्रम के जो नीवार शाक, फल, मूल जो पवित्र भोजन विहित है उन्हीं में से यथाशक्ति बलि और भिक्षा दे। आश्रम में प्राप्त अतिथियों का जल, फल, मूल की भिक्षा से सत्कार करे।

स्वाध्याये नित्य युक्तः स्याद्दान्तो मैत्रः समाहितः।
दाता नित्यमनादाता सर्व भूतानुकम्पकः॥
(मनु० ६।८)

वेद तथा सत् शास्त्रों के अध्ययन में नित्य लगा रहे। विषयों से इन्द्रियों को रोक कर रखे, सब के ऊपर प्रेम रखे और मन को अपने वश में रखे। नित्य कुछ न कुछ दान करे किन्तु किसी से स्वयं दान न ले और सब प्राणियों पर दया रखे।

वैतानिकं च जुहुयादग्नि होत्रं यथा विधि।
दर्शम स्कन्दयन्पर्व पौर्णमासं च योगतः॥
(मनु० ६।९)

अमावस्या और पूर्णिमा इन दोनों पर्वों को न छोड़ता हुआ समय पर यथोक्त विधि से वैतानिक अग्निहोत्र करे।

उपस्पृशंस्त्रिषवणं पितृन्देवांश्च तर्पयेत्।
तपश्चरंश्चोग्रतरं शोषयेद्देहमात्मनः॥
(मनु० ६।२४)

प्रातःकाल और मध्याह्नकाल और सायंकाल में स्नान करके पितृगण का और देवताओं का तर्पण करे और तीव्र तपस्या करके अपने शरीर को सुखावे।

अप्रयत्नः सुखार्थेषु ब्रह्मचारी धराशयः।
शरणेष्वममश्चैव वृक्ष मूल निकेतनः॥
(मनु० ६।२६)

सुख भोग के लिये यत्न न करे ब्रह्मचारी होकर रहे (अर्थात् आठों प्रकार के मैथुनों को छोड दे) जैसे—

स्मरण कीर्तन् केलिः प्रेक्षण गुह्य भाषणम् ।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रिया निष्पत्तिरेव च ॥

स्त्री का स्मरण करना, उसका वर्णन करना, उसके साथ ताश, शतरंज आदि खेल खेलना, स्त्री को देखना, उसके साथ एकान्त मे बोलना, स्त्री को पाने की इच्छा करना, उसे पाने का निश्चय कर लेना और उसके साथ सभोग करना, ये आठ प्रकार के शास्त्र में मैथुन कहे गये हैं, उन आठों प्रकार के मैथुनों का त्याग कर देना ही सच्चा ब्रह्मचर्य है । जमीन पर सोवे, निवास स्थान की ममता न रखे, वृक्ष की जड़ को अपना घर बनावे अर्थात् घर न बनाकर वृक्ष के नीचे सो जाय ।

एताश्चान्याश्च सेवेत दीक्षा विप्रो वने वसन् ।
विविधाश्चौपनिषदीरात्म संसिद्धये श्रुतीः ॥
(मनु० ६।२९)

इन पूर्वोक्त नियमों का और अन्य शास्त्रोक्त नियमों का वन में निवास करते हुए पालन करे और अनेक प्रकार के उपनिषदों का आत्मज्ञान के लिये श्रवण, मनन, निदिध्यासन करे । वानप्रस्थ के और भी अनेक धर्म हैं जो मनुस्मृति के छठे अध्याय में विस्तार पूर्वक कहे गये हैं ।

अफाल कृष्टेनाग्नींश्च पितृन्देवातिथीनपि ।
भृत्यांश्च तर्पयेन्नश्मश्रु जटा लोमदात्मवान् ॥
(याज्ञ० वान० ४६)

विना जुती हुई भूमि में जो अन्न उपजे उसीसे अग्नि, पितर, देवता, अतिथि और सेवकों को संतुष्ट करे, दाढ़ी, जटा और रोम न तुड़ावे अर्थात् इनका छेदन वानप्रस्थ आश्रम में निषिद्ध है और आत्मा की उपासना में रत होवे ।

दान्तस्त्रिषवण स्नायी निवृत्तश्च प्रतिग्रहात् ।
स्वाध्यायवान् दान शीलः सर्व सत्त्व हिते रतः ॥
(याज्ञ० वान० ४८)

इन्द्रियों को दमन करे, प्रातः मध्याह्न और सायं इन तीनों काल में स्नान करे, किसी से दान न ले, सत् शास्त्रों का अध्ययन करता रहे, स्वयं दान दिया करे, सब प्राणियों की भलाई करने में तत्पर रहे ।

ग्रीष्मे तप्येत पंचाग्नीन्वर्षास्वासारषाड् जले ।
आकण्ठमग्नः शिशिर एवं वृत्तस्तपश्चरेत् ॥
(भाग० ११।१८।४)

ग्रीष्म ऋतु में पचाग्नि तपे अर्थात् अपने चारों तरफ अग्नि रख कर ऊपर से सूर्य का तेज सहे और वर्षा में जल-वृष्टि सहे, शिशिर ऋतु में जितने जल में कंठ डूब जाय उतने जलमें जाकर तपस्या करे ।

वन्यैश्चरु पुरोडाशैर्निवपत् काल चोदितान् ।
न तु श्रौतेन पशुना मां यजेत वनाश्रमी ॥
(भाग० ११।१८।७)

वन के चरु और पुरोडाश से समय समय पर यज्ञ करे, यज्ञीय पशु से वानप्रस्थ आश्रम में रहकर मेरा यज्ञ कभी न करे।

यस्त्वेतत्कृच्छ्रतश्चीर्णं तपो निःश्रेयसं महत् ।
कामायाल्पीयसे युञ्जयाद्बालिशः कोऽपरस्ततः ॥
(भाग० ११।१८।१०)

जो यह कठिन तपस्या है जिसका उत्तम फल मोक्ष है उस तपस्या को जो क्षुद्र धन स्त्री आदि कामना के लिये करता है, उससे बढ़कर और दूसरा मूर्ख कौन है !

* इति पंचम रत्न *

संन्यास आश्रम के असाधारण धर्म ।

वनेषु च विहृत्यैव तृतीयं भागमायुषः ।
चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा सगान्परिव्रजेत् ॥
(मनु० ६।३३)

आयु (उमर) के तीसरे हिस्से को वानप्रस्थ आश्रम में बिता कर आयु के चौथे भाग में सर्व-सग परित्याग कर सन्यास ग्रहण करे।

आश्रमादाश्रमं गत्वा हुत होमो जितेन्द्रियः ।
भिक्षा बलि परिश्रान्तः प्रव्रजन् प्रेत्य वर्धते ॥
(मनु० ६।३४)

एक आश्रम से दूसरे आश्रम में जाकर जितेन्द्रिय होकर भिक्षा, बलि, वैश्वदेव और अग्निहोत्र आदि कर्म करते करते थक जाने पर जो अन्त में सन्यास ग्रहण कर शरीर का त्याग करता है वह परलोक में अच्छी गति को प्राप्त करता है। अर्थात् क्रम से ब्रह्मचर्य आश्रम, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ इन आश्रमों को पार करके पश्चात् सन्यास लेना समुचित है। यद्यपि यह कोई नियम नहीं है जब जिस आश्रम में वैराग्य उत्पन्न हो जाय तभी उसी आश्रम से सन्यास ले लेने के लिये श्रुति में उपदेश है। जैसे— "यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्" अर्थात् जभी वैराग्य हो तभी सन्यास ले लेना चाहिये।

अधीत्यविधिवद्वेदान्पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः ।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत् ॥
(मनु० ६।३६)

विधि पूर्वक वेद पढ़कर धर्म से पुत्रों का उत्पादन करके और यथा शक्ति यज्ञों का अनुष्ठान करके पश्चात् मोक्ष के अन्तरंग जो चतुर्थ आश्रम संन्यास है, उसमें मन को लगा देना चाहिये।

प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्व वेद स दाक्षिणाम् ।
आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेत् गृहात् ॥
(मनु० ६।३८)

प्राजापत्य यज्ञ जिसमें सर्वस्व की दक्षिणा दी जाती है, उसे शास्त्रोक्त रीति से सम्पादन करके अपने में अग्नि को समारोपित करके ब्राह्मण संन्यास ग्रहण के लिये घर से सदैव के लिये यात्रा करे। यद्यपि जाबालि श्रुति में इन चारों आश्रमों का समुच्चय विकल्प से कहा गया है अर्थात् एक आश्रम से दूसरे आश्रम में प्रवेश करना इस पद्धति को आवश्यक नहीं माना है। जैसे— "ब्रह्मचर्यं समाप्य गृहीभवेत् गृहीभूत्वा वनी भवेत् वनीभूत्वा प्रव्रजेत् इतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् गृहाद्वावनाद्वा"–(जाबालि श्रुति)।

यो दत्वा सर्व भूतेभ्यः प्रव्रजत्यभयं गृहात् ।
तस्यतेजोमयालोका भवन्ति ब्रह्मवादिनः ॥
(मनु० ६।३९)

जो सब प्राणियों को अभय देकर घर से संन्यास ले लेता है उस ब्रह्मलोक के मानने वाले ब्रह्मनिष्ठ पुरुष को सब तेजोमय (हिरण्यगर्भ आदि लोक) प्राप्त होते हैं।

आगारादभिनिष्क्रान्तः पवित्रोपचितो मुनिः ।
समुपोढेषु कामेषु निरपेक्षः परिव्रजेत् ॥
(मनु० ६।४१)

घर से निकल कर पवित्र दण्ड, कमंडलु आदि साथ में लेकर समीप में अनायास प्राप्त भी भोग्य पदार्थ की इच्छा न करके संन्यास धारण कर ले।

एक एव चरेन्नित्यं सिद्ध्यर्थमसहायवान् ।
सिद्धिमेकस्य संपश्यन्न जहाति न हीयते ॥
(मनु० ६।४२)

मोक्ष की सिद्धि के लिये अकेला ही किसी से भी सहायता न लेकर सदैव रहे। एकाकी पुरुष को मुक्ति मिलती है। ऐसा जो जानता है वह न तो किसी को छोड़ता है और न किसी से छोड़ा जाता है अर्थात् उसे किसी के छोड़ने का दुःख नहीं होता और न किसी से छोड़े जाने का दुःख होता है।

अनग्निरनिकेतः स्याद्ग्राममन्नार्थमाश्रयेत् ।
उपेक्षकोऽसंकुसुको मुनिर्भाव समाहितः ॥
(मनु० ६।४३)

अग्नि सयोग न करे, लौकिक घर बनाकर न रहे, वृक्ष की जड को ही घर बनावे "वृक्ष मूल निकेतन" कह चुके हैं।

कपाल वृक्ष मूलानि कुचेलमसहायता ।
समता चैव सर्वस्मिन्नेतन्मुक्तस्य लक्षणम् ॥
(मनु० ६।४४)

भिक्षा के लिये काठ का खप्पर, रहने के लिये वृक्ष की जड, पहनने के लिये मोटा पुराना कपडा, सर्वत्र ब्रह्म बुद्धि रहने से शत्रु मित्र का अभाव, इतने मुक्त पुरुष के चिह्न हैं।

क्रुद्ध्यन्तं न प्रतिक्रुद्ध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत् ।
सप्तद्वारावकीर्णां च न वाचमनृतां वदेत् ॥
(मनु० ६।४८)

क्रोध करने वाले के ऊपर भी क्रोध न करे, अपनी निन्दा करने वाले की भी निन्दा न करे, उसको भी प्रिय कहे, पच ज्ञानेन्द्रिय (श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना, घ्राण) और मन, बुद्धि इन सातों से ग्रहण करने योग्य असत्य विषय की चर्चा न करे। केवल सत्य जो ब्रह्म है उसकी ही सदैव चर्चा करता रहे।

अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः ।
आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह ॥
(मनु० ६।४९)

सदैव ब्रह्म के चिन्तन में लगा रहे, स्वस्तिक आदि योगासन लगा कर बैठे, दड, कमंडलु की भी विशेष अपेक्षा न रखे, विषयों

की अभिलाषा को छोड़ दे, केवल अपनी देह को सहायक बना कर मोक्षार्थी इस संसार मे भ्रमण करे।

इन्द्रियाणां निरोधेन राग द्वेष क्षयेण च।
अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते॥
(मनु० ६।६०)

इन्द्रियों के निग्रह से और रागद्वेष के विनाश से प्राणियों की अहिंसा से संन्यासी मोक्ष पाने का अधिकारी होता है।

वेद संन्यासी का असाधारण धर्म।

एष धर्मोऽनुशिष्टो वो यतीनां नियतात्मनाम्।
वेद संन्यासिकानां तु कर्मयोगं निबोधत॥
(मनु० ६।८६)

चार प्रकार के जो यति हैं (१) कुटीचर (२) बहूदक (३) हंस (४) परमहंस; उन सबके उपर्युक्त धर्म कहे गये हैं, इन चारों भिक्षुओं मे उत्तरोत्तर उत्तम है। अब उनमें वेद विहित आदि कर्म करने वाले जो कुटीचर यति हैं उनका असाधारण धर्म कहा जाता है।

दश लक्षणकं धर्ममनुतिष्ठन् समाहितः।
वेदान्तं विधिवच्छ्रुत्वा संन्यसेदनृणो द्विजः॥
(मनु० ६।९४)

धर्म शास्त्रोक्त दश प्रकार के धर्मों का पालन करता हुआ मन को वश में रख कर वेदान्त के अर्थ को गुरु के मुख से अच्छी

रीति से गृहस्थ आश्रम में ही समझकर देवादि जो तीन ऋण मानव समाज के ऊपर रहते हैं उनसे मुक्त होकर सन्यास धारण करे।

एव सन्यस्य कर्माणि स्वकार्य परमोऽस्पृहः ।
सन्यासेनापहत्यैन. प्राप्नोति परमा गतिम् ॥
(मनु० ६।९६)

इस प्रकार गृहस्थोचित अग्निहोत्रादि कुल कर्मों का सन्यास करके विपय वासना से रहित होकर आत्मज्ञान में तत्पर होकर सन्यास से सब पापों को दूर करके परम गति को प्राप्त करता है ।

सर्व भूत हित' शान्तस्त्रिदडी सकमडलुः ।
एकारामः परिव्रज्य भिक्षार्थी ग्राममाश्रयेत् ॥
(याज्ञ० यति० ५८)

सन्यास लेकर सब जीवों की भलाई करे, कडी बात कहने पर भी क्रोध न करे, शास्त्र के अनुसार तीन दड और कमडलु धारण करे, सब का सग छोड़ दे, केवल भिक्षा के लिये गाव में जाय ।

रुया लोका लम्भ विगम. सर्व भूतात्म दर्शनम् ।
त्याग. परिग्रहाणा च जीर्ण कापाय धारणम् ॥
(याज्ञ० यति० १५७)

स्त्रियों का देखना और स्पर्श करना त्याग दे, सब जीवों में सत् चित् आनन्द स्वरूप आत्मा को देखना, धन, स्त्री, पुत्र आदि सबका त्याग कर देना और पुराना काषाय रंग का वस्त्र धारण करना।

विषयेन्द्रिय संरोधस्तन्द्रालस्य विवर्जनम्।
शरीर परिसंख्यानं प्रवृत्तिष्वघ दर्शनम्॥
(याज्ञ० यति० १५८)

विषयों से इन्द्रियों को रोकना, तंद्रा (जंभाई) और आलस्य को छोड़ना, शरीर के दोषों का गिनना सब प्रवृत्तियों में पाप देखना।

बिभृयाच्चेन्मुनिर्वासः कौपीनाच्छादनं परम्।
त्यक्तं न दंड पात्राभ्यामन्यत्किंचिदनापदि॥
(भाग० ११।१८।१५)

संन्यासी कौपीन वस्त्र धारण करे आपत्काल उपस्थित नहीं होने पर दंड कमंडलु के अतिरिक्त अन्य कुछ धारण न करे।

मौनानीहानिलायामा दंडा वाग्देह चेतसाम्।
नह्येते यस्य सन्त्यंग वेणुभिर्न भवेद्यतिः॥
(भाग० ११।१८।१७)

वचन का दंड मौन है, देह का दंड निष्काम रहना है और चित्त का दंड प्राणायाम है, ये तीन दंड वचन, देह और

के जिस संन्यासी में नहीं हैं, केवल बांस के दंड रख लेने से वह संन्यासी नहीं हो सकता।

एकश्चरेन्महीमेतां निःसंगः संयतेन्द्रियः।
आत्म क्रीड आत्मरत आत्मवान् समदर्शनः॥
(भाग० ११।१८।२०)

जितेन्द्रिय और निःसंग होकर पृथ्वी पर भ्रमण करे, आत्मा में ही आमोद प्रमोद करे, आत्मा में ही प्रसन्न रहे, आत्मज्ञानी हो और समदर्शी हो।

विविक्त क्षेम शरणो मद्भाव विमलाशयः।
आत्मानं चिन्तयेदेकमभेदेन मया मुनिः॥
(भाग० ११।१८।२१)

एकाकी रहकर मोक्ष की शरण में रहे, मुझमें (ईश्वर में) प्रेम रखे, अन्तःकरण को निर्मल रखे, सन्यासी मुझसे अभेद करके एक आत्मा का चिन्तन करे।

यदेतदात्मनि जगन्मनो वाक्प्राण संहतम्।
सर्वं मायेति तर्केण स्वस्थस्त्यक्त्वान तत्स्मरेत्॥
(भाग० ११।१८।२७)

मन, वचन, प्राण आदि का संघात रूप जो यह जगत् आत्मा में भासित होता है यह सब माया है ऐसा तर्क द्वारा समझ कर प्रकृतिस्थ होकर उसे छोड़ दे और पुनः उसका स्मरण न करे।

तावत्परिचरेद्भक्तः श्रद्धावाननसूयकः ।
यावद्ब्रह्म विजानीयान्मामेव गुरुमादृतः ॥
(भाग० ११।१८।३९)

दोष दृष्टि का त्याग कर श्रद्धा रखकर भक्त बन कर तब तक आदर पूर्वक मुझे ही गुरू मान कर मेरी (ईश्वर की) सेवा करे, जब तक ब्रह्म को न जाने।

* इति षष्ठ रत्न *

अब वर्णों के असाधारण धर्म दिखाते हैं:—

ब्राह्मण का असाधारण धर्म ।

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्म कर्म स्वभावजम् ॥
(भ० गी० १८।४२)

मन को विषयों से रोक कर ईश्वर या आत्मज्ञान में लगाना, इन्द्रियों को विषयों से हटाकर ईश्वर अथवा आत्मज्ञान की प्राप्ति के साधन में लगाना, शारीरिक, मानसिक, वाचनिक जो त्रिविध तपस्या शास्त्र में कथित है उसका पालन करना, पवित्रता रखना, क्षमा, सरलता, सत् शास्त्रों का ज्ञान, अध्यात्मज्ञान, आस्तिक भाव यह सब ब्राह्मणों का स्वाभाविक कर्म है।

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥
(मनु० १।८८)

शास्त्र पढाना, शास्त्र पढना, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना और दान लेना यह छ कर्म ब्राह्मणों के असाधारण हैं।

ब्राह्मण की प्रकृति ।

शमो दमस्तपः शौचं सन्तोषः क्षान्तिरार्जवम् ।
मद्भक्तिश्च दया सत्यं ब्रह्म प्रकृतयस्त्विमाः ॥
(भा० ११।१७।१६)

मन को नियन्त्रण रखना, इन्द्रियों का नियंत्रण रखना, तपस्या पवित्रता, सन्तोष, दया, क्षमा, कोमलता, ईश्वर की भक्ति, सत्य यह सब ब्राह्मण की प्रकृति हैं।

इज्याध्ययन दानानि वैश्यस्य क्षत्रियस्य च।
प्रतिग्रहोऽधिको विप्रे याजनाध्यापने तथा॥
(याज्ञ० गृह० १८)

यज्ञ करना, सत् शास्त्रों का पढ़ना, दान देना यह तीनों कर्म वैश्य और क्षत्रिय के भी हैं, इन तीनों कर्मों के सिवाय ब्राह्मण के धर्म दान लेना, यज्ञ कराना, पढ़ाना यह तीनों भी हैं। इस प्रकार ब्राह्मण के छः कर्म शास्त्र में कहे गये हैं।

क्षत्रिय का असाधारण धर्म।

शौच तेजोधृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वर भावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥
(भ० गी० १८।४३)

शूरता, तेज, धैर्य, चतुरता, युद्ध से नहीं भागना, सुपात्र को दान देना, निग्रहानुग्रह सामर्थ्य, यह सब क्षत्रियों के स्वाभाविक धर्म हैं।

प्रजाना रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः॥
(मनु० १।८९)

प्रजा की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, सत् शास्त्रों का अध्ययन करना, विषयों में आसक्त न होना संक्षेप में यह क्षत्रिय के कर्म हैं।

क्षत्रिय की प्रकृति ।

तेजो वल धृति शौर्यं तितिक्षौदार्यमुद्यमः ।
स्थैर्यं ब्रह्मएयतैश्वर्यं क्षत्र प्रकृतयस्त्विमा. ॥
(भाग० ११।१७।१७)

तेज, वल, धैर्य, शूरता, क्षमा, उदारता, उद्योग, स्थिरता, ब्रह्मण्यता (वेदों में आस्तिकता) ऐश्वर्य ये क्षत्रियों के स्वभाव हैं।

इज्याध्ययन दानानि वैश्यस्य क्षत्रियस्य च ।
प्रधन क्षत्रिये कर्म प्रजाना परिपालनम् ॥
(याज्ञ० गृह० ११)

यज्ञ करना, सत् शास्त्रों का पढना, दान देना ये तीनों कर्म तो क्षत्रिय और वैश्य के भी हैं किन्तु क्षत्रिय का प्रधान कर्म प्रजाओं का (जनता का) पालन करना है ।

वैश्य का असाधारण धर्म ।

कृषि गोरक्ष्य वाणिज्य वैश्य कर्म स्वभावजम् ।
(भ० गी० १८।४४)

खेती करना, गोरक्षा करना, व्यापार करना वैश्य के स्वाभाविक धर्म हैं ।

पशूना रक्षण दानमिज्याध्ययनमेव च ।
वणिक्पथ कुसीद च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥
(मनु० १।९०)

पशुओं का पालन करना, दान, यज्ञ, सत्शास्त्रों का अध्ययन, वाणिज्य, ब्याज लेना यह छ वैश्य के खास धर्म हैं ।

वैश्य की प्रकृति ।

आस्तिक्यं दान निष्ठा च अदम्भो ब्रह्मसेवनम्।
अतुष्टिरर्थोपचयैर्वैश्य प्रकृतयस्त्विमा. ॥
(भाग० ११।१७।१८)

आस्तिकता, दान देने की आदत, दम्भ को छोड़कर ब्राह्मण की सेवा करना, द्रव्य संग्रह में संतोष न करना यह वैश्य के स्वभाव हैं।

इज्याध्ययन दानानि वैश्यस्य क्षत्रियस्य च ।
कुसीदं कृषि वाणिज्यं पाशुपाल्यं विशः स्मृतम् ।
(याज्ञ० गृह० १८।१९)

यज्ञ करना, पढ़ना, दान देना यह तीन कर्म तथा ब्याज पर रुपया देना, खेती करना, वाणिज्य, पशु पालन ये वैश्य के कर्म हैं।

शूद्र का असाधारण धर्म ।

परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ।
(भ० गी० १८।४४)

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीनों वर्णों की सेवा करना शूद्र का स्वाभाविक धर्म है।

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत् ।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ॥
(मनु० १।९१)

ब्रह्माजी ने शूद्र के लिये प्रधान रूप से एक ही कर्म का आदेश

किया है। किसी के गुण की निन्दा न करते हुए उपर्युक्त तीनों वर्णों की सेवा करना।

शूद्र की प्रकृति।

शुश्रूषणं द्विजगवा देवाना चाप्यमायया।
तत्र लब्धेन सन्तोष शूद्र प्रकृतयस्त्विमाः॥
(भाग० ११।१७।१९)

निष्कपट भाव से द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) की तथा गाय की और देवताओं की सेवा करना और उनकी सेवा करने मे जो कुछ धन मिल जाय, उसीसे सन्तोष कर लेना ये शूद्र के स्वभाव हैं।

शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा तया जीवन्वणिग्भवेत्।
शिल्पैर्वा विविधैर्जीवेद् द्विजाति हितमाचरन्॥
(याज्ञ० गृह० २०)

द्विज की सेवा करना शूद्र का प्रधान कर्म है, यदि उससे जीवन रक्षा न कर सके तो वाणिज्य करे अथवा अनेक प्रकार की शिल्प कला से निर्वाह करे परन्तु द्विज का हित करता रहे।

* इति सप्तम रत्न *

स्त्री के मुख्य धर्म।

बालया वा युवत्या वा वृद्धया वापि योषिता।
न स्वातंत्र्येण कर्त्तव्यं किंचित्कार्यं गृहेष्वपि॥
(मनु० ५।१४७)

स्त्री लड़की हो या युवती हो अथवा वृद्धा हो उसे घर में भी अपनी इच्छानुसार कुछ भी कार्य नहीं करना चाहिये अर्थात् वह कभी स्वतंत्र नहीं रह सकती है।

बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत्पाणिग्राहस्य यौवने।
पुत्राणां भर्तरि प्रेते न भजेत् स्त्री स्वतंत्रताम्॥
(मनु० ५।१४८)

स्त्री बाल्य अवस्था में पिता के अधीन रहती है, यौवनावस्था में पति के अधीन रहती है और पति के परलोक जाने पर पुत्रों के अधीन रहती है, इस प्रकार स्त्री कभी स्वतंत्र नहीं रहती है।

पित्रा भर्त्रा सुतैर्वापि नेच्छेद्विरहमात्मनः।
एषां हि विरहेण स्त्री गर्ह्ये कुर्यादुभे कुले॥
(मनु० ५।१४९)

पिता, पति या पुत्रों से पृथक् रहने की इच्छा स्त्री न करे क्योंकि इनके अलग रहने से स्त्री दोनों कुल को अर्थात् पति कुल और पितृ कुल को निन्दित कर देती है।

सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृह कार्येषु दक्षया।
सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्त हस्तया॥
(मनु० ५।१५०)

पति के असन्तुष्ट होजाने पर भी सदैव स्त्री को प्रसन्न रहना चाहिये और दक्षता के साथ घर के कामों को करना चाहिये।

यस्मै दद्यात्पिता त्वेना भ्राता वानुमते पितुः ।
तं शुश्रूषेत जीवन्तं संस्थितं च न लंघयेत् ॥
(मनु० ५।१५१)

पिता अथवा पिता की आज्ञा से भ्राता जिसे कन्या दान दे दे अर्थात् जिसके साथ विवाह करा दे, जीवन भर उसकी सेवा स्त्री करे और पति के घर को प्रतिष्ठित (प्रचलित) धर्म का कभी भी उल्लंघन न करे।

मंगलार्थं स्वस्त्ययनं यज्ञश्चासां प्रजापतेः ।
प्रयुज्यते विवाहेषु प्रदानं स्वाम्यकारणम् ॥
(मनु० ५।१५२)

विवाह में जो स्वस्त्ययन, शान्ति मंत्र पाठ और प्रजापति यज्ञ अर्थात् प्रजापति को उद्देश करके होम किया जाता है वे सब कर्म मंगल कामना के लिये किये जाते हैं। जब प्रथम वाग्दान हो जाता है तब से स्त्री पतिके अधीन हो जाती है। तभी से पति का आश्रय स्त्री को करना चाहिये।

अनृतावृतुकाले च मंत्र संस्कार कृत्पतिः ।
सुखस्य नित्यं दातेह परलोके च योषित ॥
(मनु० ५।१५३)

मन्त्र संस्कार के द्वारा पाणिग्रहण करने वाला पति इस लोक में ऋतुकाल उपस्थित होने पर और उससे अतिरिक्त काल में भी स्त्री को पति सदैव सुख देता है और पति के आराधना करने से परलोक में भी स्त्री को स्वर्ग आदि सुख मिलते हैं अतः पति परलोक का भी सुख प्रदाता होता है।

विशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जितः।
उपचर्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत् पतिः॥
(मनु० ५।१५४)

यदि पति अनाचारी भी हो अथवा दूसरी स्त्री में अनुरक्त हो या गुणों से रहित हो तो भी साध्वी स्त्री को सर्वदा देवता की तरह अपने पति की सेवा करनी चाहिये।

नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषणम्।
पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते॥
(मनु० ५।१५५)

स्त्री के लिये पति की सेवा के अतिरिक्त न तो कोई अलग यज्ञ है न तो कोई व्रत है और न उपवास है, स्त्री पति की सेवा करती है उसीसे वह स्वर्गलोक में पूजित होती है। स्त्री व्रत उपवास आदि धार्मिक कार्य भी पति की आज्ञा लेकर ही करे।

पाणिग्राहस्य साध्वी स्त्री जीवतो वा मृतस्य वा।
पतिलोकमभीप्सन्ती नाचरेत् किंचिदप्रियम्॥
(मनु० ५।१५६)

पति के साथ धर्माचरण करने से जो स्वर्गादि लोक स्त्री को प्राप्त होता है उसकी इच्छा करने वाली साध्वी स्त्री पति के जीवित रहने अथवा मर जाने पर भी पति का कुछ भी अप्रिय कार्य न करे। व्यभिचार करने से और विहित श्राद्ध नहीं करने से मृत पति का अप्रिय कार्य होता है, अतः उसे न करे।

विधवा के धर्म।

कामं तु क्षपयेद्देहं पुष्प मूल फलैः शुभैः।
नतु नामापि गृह्णीयात् पत्यौ प्रेते परस्य तु॥
(मनु० ५।१५७)

पति के परलोक जाने पर पवित्र फल, फूल, मूल खाकर देह को क्षीण (पतला) करे परन्तु पर पुरुष का कभी नाम तक न ले अर्थात् मैथुन करने के विचार से दूसरे पुरुष का नाम तक मुंह में न लावे।

आसीतामरणात्क्षान्ता नियता ब्रह्मचारिणी।
यो धर्म एकपत्नीनां कांक्षन्ती तमनुत्तमम्॥
(मनु० ५।१५८)

विधवा स्त्री पतिव्रता स्त्रियों का सर्वोत्तम धर्म को चाहने वाली मरने के समय तक क्षमा युक्त होकर नियम पूर्वक ब्रह्मचारिणी बन कर रहे।

मृते भर्त्तरि साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता।
स्वर्गं गच्छत्यपुत्रापि यथा ते ब्रह्मचारिणः॥
(मनु० ५।१६०)

जो पतिव्रता स्त्री पति के मर जाने पर ब्रह्मचर्य से रहती है अर्थात् दूसरे पुरुष से मैथुन नहीं करती है वह स्त्री पुत्र हीना होने पर भी स्वर्ग लोक जाती है। जैसे सनक, बालखिल्य आदि पुत्र हीन ब्रह्मचारी स्वर्गलोक गये।

अपत्य लोभाद्या तु स्त्री भर्तारमति वर्तते ।
सेह निन्दामवाप्नोति पतिलोकाच्च हीयते ॥
(मनु० ५।१६१)

जो स्त्री सन्तान होने के लोभ से अपने पति का उल्लंघन करती है अर्थात् पर पुरुष से व्यभिचार करती है उस स्त्री की इहलोक में तो निन्दा होती है और पति लोक से भ्रष्ट हो जाती है अर्थात् उस पुत्र से स्वर्ग उसे नहीं मिलता है।

यान्योत्पन्ना प्रजास्तीह न चाप्यन्य परिग्रहे ।
न द्वितीयश्च साध्वीनां क्वचिद्भर्त्तोपदिश्यते ॥
(मनु० ५।१६२)

जो स्त्री अपने पति से अन्य पुरुष से सन्तान उत्पन्न कराती है वह सन्तान शास्त्र रीति से उस स्त्री की नहीं होती है और जो पुरुष अपनी पत्नी से अन्य स्त्री के द्वारा सन्तान उत्पन्न कराता है वह सन्तान उस पुरुष की भी नहीं होती है। साध्वी स्त्री का दूसरा पति कहीं भी शास्त्र में नहीं कहा गया है।

पतिं हित्वापकृष्टं स्वमुत्कृष्टं या निषेवते ।
निन्द्यैव सा भवेल्लोके परपूर्वेति चोच्यते ॥
(मनु० ५।१६३)

एवं वृत्तां सवर्णां स्त्रीं द्विजातिः पूर्वमारिणीम् ।
दाहयेदग्निहोत्रेण यज्ञ पात्रैश्च धर्मवित् ॥
(मनु० ५।१६७)

शास्त्र विधि से चलने वाली संजातीय स्त्री यदि पति से पहले मर जाय तो दाह के धर्म को जानने वाला पति अग्निहोत्र और यज्ञ पात्रों से उसकी दाह-क्रिया करे, किन्तु यह विधि द्विज अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के लिये ही है, शूद्र के लिये नहीं।

जो स्त्री अपने हीन (खराब) पतिको छोडकर दूसरे उत्कृष्ट श्रेष्ठ पुरुष का आश्रय लेती है वह स्त्री इस लोक मे तो निन्दनीय होती ही है और पर पूर्वा कही जाती है अर्थात् दूसरा पति पहले इसका था इस प्रकार समाज में निन्दनीय होती है।

व्यभिचारात्तु भर्तु स्त्रीलोके प्राप्नोति निन्धताम् ।
शृगालयोनिं प्राप्नोति पापरोगैश्च पीड्यते ॥
(मनु० ५।१६४)

व्यभिचार अर्थात् पर पुरुप के साथ मैथुन करने से इस लाक में निन्दा पाती है मरने पर शृङ्गाली (गीदड़ी) होती है और पाप रोग से पीडित होती है।

पतिं या नाभिचरति मनोवाग्देह सयता ।
सा भर्तृलोकमाप्नोति सद्भि साध्वीति चोच्यते ॥
(मनु० ५।१६५)

जो स्त्री मन, वचन और क्रिया से पति के विरुद्ध आचरण नहीं करती है वह स्त्री पति के साथ उत्तम लोक में जाती है और सज्जन लोग साध्वी कहकर उसकी प्रशसा करते हैं।

अनेन नारीवृत्तेन मनोवाग्देह सयता ।
इहाग्र्या कीर्तिमाप्नोति पतिलोक परत्र च ॥
(मनु० ५।१६६)

इस पूर्वोक्त नारी धर्म के अनुसार जो स्त्री मन से, वचन से और तन से पति की सेवा करती है वह इस लोक में सुयश पाती है और मरने पर पति के साथ स्वर्ग सुख भोगती है।

एवं वृत्तां सवर्णां स्त्रीं द्विजातिः पूर्वमारिणीम् ।
दाहयेदग्निहोत्रेण यज्ञ पात्रैश्च धर्मवित् ॥
(मनु० ५।१६७)

शास्त्र विधि से चलने वाली सजातीय स्त्री यदि पति से पहले मर जाय तो दाह के धर्म को जानने वाला पति अग्निहोत्र और यज्ञ पात्रों से उसकी दाह-क्रिया करे, किन्तु यह विधि द्विज अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के लिये ही है, शूद्र के लिये नहीं।

संयतोपस्करा दक्षा हृष्टाव्ययपराङ्मुखी ।
कुर्यात् श्वशुरयोः पादवन्दनं भर्तृतत्परा ॥
(याज्ञ० विवाह० ८३)

घर की चीजों का संयम कर रखना, कार्य में चतुर होना, प्रसन्न चित्त रहना, बहुत खर्च न करना, सास, ससुर के चरणों की वन्दना करना, पति की सर्वथा सेवा में तत्पर रहना यह स्त्री के धर्म हैं।

क्रीडां शरीर संस्कार समाजोत्सव दर्शनम् ।
हास्यं परगृहे यान त्यजेत्प्रोषित भर्तृका ॥
(याज्ञ० विवाह ०८४)

खेलना, शरीर का शृंगार करना, समाज के किसी उत्सवमें सम्मिलित होना, हसना, दूसरों के घर जाना ये सब प्रोषित भर्तृका छोड़ दे। जिस स्त्री का पति विदेश में हो वह स्त्री प्रोषित भर्तृका है।

रक्षेत् कन्यां पिता विन्नां पतिः पुत्रास्तु वार्धके।
अभावे ज्ञातयस्तेषां न स्वातंत्र्यं क्वचित् स्त्रियाः ॥
(याज्ञ० विवाह० ८५)

कुमारी की रक्षा पिता करे, विवाह होने पर पति रक्षा करे, बुढ़ापे में पुत्र रक्षा करे यदि ये लोग न रहें तो परिवार रक्षा करे स्त्री को कभी स्वतंत्र न होने देना चाहिये।

पितृ मातृ सुत भ्रातृ श्वश्रू श्वशुर मातुलैः ।
हीना न स्याद्विना भर्त्रा गर्हणीयान्यथा भवेत् ॥
(याज्ञ० विवाह० ८६)

पति यदि स्त्री के पास न हो अर्थात् विदेश हो तो स्त्री अपने पिता, माता, पुत्र, भाई, सास, ससुर और मामा इनके पास रहे अन्यथा निन्दित होती है।

पति प्रिय हिते युक्ता स्वाचारा विजितेन्द्रिया ।
इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमां गतिम् ॥
(याज्ञ० विवाह० ८७)

पति के प्रिय और परिणाम में हितकारक कार्य में तत्पर, सुन्दर आचरण रखने वाली तथा इन्द्रियों को अपने वश में रखने वाली स्त्री यहां कीर्ति पाती है और परलोक में उत्तम सुख को प्राप्त करती है।

भर्तुः शुश्रूषणं स्त्रीणां परो धर्मो ह्यमायया ।
तद्बन्धूनां च कल्याण्यः प्रजानां चानुपोषणम् ॥
(भाग० १०।२९।२४)

हे कल्याणी ! निष्कपट भाव से पति की सेवा करना स्त्रियों का परम धर्म है और पति के बन्धुओंकी सेवा करना और उनके भृत्यों का पालन करना स्त्री का परम धर्म है।

दुःशीलो दुर्भगो वृद्धो जडो रोग्यधनोऽपि वा।
पतिः स्त्रीभिर्न हातव्यो लोकेप्सुभिरपातकी॥
(भाग० १०।२९।२५)

यदि पति का आचरण बुरा हो अथवा अभागा पति हो, वृद्ध हो, मूर्ख हो, रोगी हो, दरिद्र हो किन्तु पातकी न हो तो परलोक चाहने वाली स्त्रियों के त्यागने योग्य नहीं अर्थात् ऐसे पति का भी त्याग स्त्री न करे।

स्त्रीणां च पतिदेवानां तच्छुश्रूषानुकूलता।
तद्बन्धुष्वनुवृत्तिश्च नित्यं तद्व्रतधारणम्॥
(भाग० ७।११।२५)

पति की सेवा, पति के अनुकूल रहना, पति के बन्धुओं की अनुवृत्ति और सर्वदा पति के नियमों का पालन, ये पतिव्रता स्त्रियों के लक्षण और धर्म हैं।

समार्जनोपलेपाभ्यां गृहमण्डलवर्तनैः।
स्वयं च मण्डिता नित्यं परिमृष्ट परिच्छदा॥

कामैरुच्चावचैः साध्वी प्रश्रयेण दमेन च।
वाक्यैः सत्यैः प्रियैः प्रेम्णा काले काले भजेत्पतिम्॥
(भाग० ७।११।२६-२७)

सती साध्वी स्त्रियों का कर्तव्य है कि वे घर को बहारें, झाड़ें, लीपें, सँवारें, सिंगारें और नित्य घर की सामग्री को साफ करके यथोचित स्थानों पर रक्खें और स्वयं आभूषण व वस्त्रों से भूषित हो अनेक भोग की वस्तुयें देकर विनय से, इन्द्रिय दमन से, मधुर वाणी से और प्रेम से पति को सन्तुष्ट रक्खें व सेवा करें।

संतुष्टा लोलुपा दक्षा धर्मज्ञा प्रिय सत्यवाक्।
अप्रमत्ता शुचिः स्निग्धा पतिं त्वपतितं भजेत्॥
(भाग० ७।११।२८)

स्त्री को चाहिये कि जो प्राप्त हो उसीमें सन्तुष्ट रहे, भोग की वस्तुओं के लिये लाव लाव न करे, कार्य में आलस्य न करे, धर्म को जाने, मधुर वचन बोले, सावधान और शुद्ध रहे एवं स्नेह सहित अपतित पति की सदा सेवा करे।

या पतिं हरिभावेन भजेच्छ्रीरिव तत्परा।
हर्यात्मना हरेर्लोके पत्या श्रीरिव मोदते॥
(भाग० ७।११।२९)

राजन्! जो स्त्री लक्ष्मी के समान पति परायणा होकर अनन्य भाव से हरि की भावना करके पति की सेवा करती है वह बैकुण्ठ धाम में हरिस्वरूप पति के साथ लक्ष्मी के समान आनन्द को प्राप्त होती है।

उपरोक्त महाऋषियों के वचन से यह सिद्ध होता है कि स्त्री के लिये पति से बढ़कर अन्य कोई देव नहीं है तथा पति ही स्त्री

के लिये भगवान् का स्वरूप है और जो स्त्री पति को रुधिर मांसादि से युक्त शरीर वाला मानती है वह इस लोक और परलोक मे दुःख पाकर भ्रष्ट होती है अतः स्त्री अपने पति के शरीर को मांसादि से युक्त न देखकर पति के शरीर को भगवान् का शरीर तथा पति को साक्षात् भगवान् ही का स्वरूप, समझे तथा अपने पति की शरीर मन वाणी से प्रेम भाव से तत्पर होकर सेवा करे। यदि पति किसी प्रकार का भी रोगी हो तो भी पति की सेवा में किंचित् मात्र भी त्रुटि न आने दे किन्तु दृढ़ श्रद्धा से प्रेम पूर्वक शरीर मन वाणी से पतिकी सेवा करती रहे। ऐसी स्त्री इस लोक तथा परलोक दोनों जगह सुख पाती है तथा परम गति का प्राप्त होती है। इस पर अनेक शास्त्रों मे दृष्टांत वर्णित हैं कि—

एक प्रतिष्ठान नगर में कौशिक वंश का एक ब्राह्मण रहता था, उस ब्राह्मण को पूर्व जन्म के पाप वशात् कुष्ट का रोग हो गया था किन्तु उसकी स्त्री बड़ी पतिव्रता थी। पति के कुष्ट का रोग होने पर भी उसके पैरों में तेल लगाया करती थी तथा प्रत्येक क्षण में स्वामी के आज्ञानुसार टहल चाकरी करती थी, औषधादि तथा अनुपान आदि पर ध्यान रखकर पति की पूर्ण सेवा करती थी। उसका पति उसको कटु वचन कहता था, तिरस्कार करता रहता था; तो भी वह स्त्री कुछ बुरा न मानकर पूर्ण श्रद्धा तथा प्रेम से सेवा करती जाती थी, पति के चलने फिरने की ताकत भी न थी परन्तु उसकी पापी वृत्ति प्रबल होने के कारण बहुत चलती थी। एक दिन अपनी

पत्नीसे कहा कि राज मार्गके पासके घरमें एक बडी सुन्दर वेश्या रहती है उसके साथमें रमण करनेकी मेरी इच्छा है अतः वहां ले जा, यद्यपि वह वेश्या मुझको कदाचित् भी स्वीकार नहीं करेगी किन्तु मुझको वहा ले जा। इस प्रकार काम से प्रेरित हुए पति के वचन को शिरोधार्य करके वह स्त्री कुछ भीख मांग कर धन वेश्या के लिये इकट्ठा करके अपने पति को कन्धे पर चढ़ाकर रात्रि के समय उस वेश्या के घर जाने लगी, रात्रि में उस रास्ते में माण्डव ऋषि बैठे थे अन्धेरा होने के कारण वह ऋषि न दीखा और भूल से उसके पति के पैर की लात उस ऋषि के लग गयी। ऋषि क्रोध होकर बोला कि सूर्य उदय होते ही जिसके पैर से मुझे लात लगी है वह मर जावेगा ऋषि के वचन सुनकर वह स्त्री बड़ी दु खी हुई और उस समय यह संकल्प किया कि सूर्य उदय ही न हो। इस पतिव्रता स्त्री के सत्य (संकल्पवशात्) सूर्य उदय नहीं हुआ और ऐसे कई दिन बीते। तब देवताओं ने देखा कि यदि सूर्य उदय नहीं हुआ तो सृष्टि की रक्षा न होगी, यह बात ब्रह्माजी से कही तब ब्रह्माजी ने कहा कि अत्रि मुनि की स्त्री अनुसूया है उसकी प्रार्थना करो। तब देवताओं ने अनुसूया से जाकर यह दुःख कहा तब अनुसूया ने कहा कि पतिव्रता स्त्री का वचन मिथ्या नहीं होता किन्तु तुम कष्ट उठा कर यहां आये हो तो मैं ऐसा काम करूंगी जिससे सूर्य उदय हो जाय और उसका पति भी जीवित रहे तथा ऋषि का वचन भी झूंठा न हो। इसके बाद अनुसूया उस कौशिक पत्नी के पास गयी और कहा कि हे कल्याणी, तू तो पति का मुख देखकर

प्रसन्न होती है और पति को सब देवताओं से बढ़कर मानती है मैंने भी तेरे ही तरह पति सेवा करके ही सब तरह के फल पाये हैं और इन सिद्धियों के कारण मेरे सब संकट दूर हो गये हैं, स्त्रियों के लिये एक मात्र स्वामी की सेवा ही परम धर्म है क्योंकि स्वामी ही उनकी परम गति है, पति जो देवता, अतिथि और सत् पुरुषों की सेवा करता है उन सेवाओं में पत्नी एक मात्र पतिकी सेवा के कारण से ही आधे भाग की हिस्सेदार-अर्धाङ्गिनी कहलाती है। इस प्रकार के वचन सुनकर कौशिक पत्नी बड़ी खुशी हुई और सती अनुसूया से पूछने लगी कि अब पति के कल्याण के लिये मुझे क्या करना चाहिये। अनुसूया ने कहा—हे साध्वी तेरी इच्छा से दिन और रात एकसा होगया है जिससे लोगों के काम काज रुक गये हैं, संसार के नष्ट हो जाने का समय आ गया है इसलिये देवताओं ने मुझे तेरे पास प्रार्थना करने के लिये भेजी है। हे तपस्विनी, दिनके अभाव से संसारके नाश हो जाने का मौका आगया है इसलिये सब पर दया करके तू सूर्य को उदय होने की आज्ञा दे दे।

उस पतिव्रता ने कहा—माण्डव्य ऋषि ने बड़े क्रोध में आकर मेरे पति को शाप दिया है कि सूर्योदय होते ही तू मर जायगा। अनुसूया ने कहा—मैं तेरे पति को फिर से जिन्दा कर दूंगी और उन्हें नया कलेवर प्राप्त हो जायगा, मेरे लिये तो पतिव्रता स्त्री सदैव आराधना योग्य है इसलिये मैं तो सदा तेरा आदर करूंगी।

इस पर पतिव्रता ने तथास्तु कहा और उसके कहते ही सूर्य उदय हो गया, जगत् का समस्त दुःख दूर होगया पर कौशिक का प्राणान्त होगया। उसी समय अनुसूया ने कौशिक पत्नी का धीरज बँधा कर कहा कि अब मैं अपने पतिव्रता तपोबल को दिखाती हूँ। ऐसा कहकर उसने कहा हे भगवान्! रूप शील बुद्धि और मधुरता आदि सद्गुण के द्वारा यदि कभी भी किसी परपुरुष पर मुझे मोह न हुआ हो तो उस पुण्य बल से आज इस साध्वी ब्राह्मणी का पति रोग मुक्त हो फिर से निन्दा होजाय और साध्वी ब्राह्मणी पत्नीके साथ सौ वर्षतक जीवित रहे, अपने स्वामी को मैंने देवता से भी अधिक पूज्य माना हो तो उस पुण्य बल से यह ब्राह्मण निरोग हो जाय। मन वचन और शरीर से मैं सदा अपने पति की आराधना मे ही तत्पर रही होऊ तो उस पुण्य बल से यह ब्राह्मण जी उठे। अनुसूया का ऐसा कहना था कि वह ब्राह्मण व्याधि मुक्त होकर फिर से जवानी प्राप्त करके जी उठा, तब आकाश से फूलो की वर्षा हुई और देवताओंने दुन्दुभी बजाई इसके बाद अनुसूया चली गयी। पतिव्रता अपने तरुण स्वामी की प्रेम और श्रद्धा से सेवामें लग गयी तथा उसके साथ सुखपूर्वक धर्म पालन करने मे प्रवृत्त होगई।

अनुसूया और कौशिक स्त्री की दृढता, प्रेम तथा श्रद्धा युक्त पतिव्रत धर्म का कितना महत्व था अत सम्पूर्ण स्त्रियों को उनकी शिक्षानुसार पतिव्रत धर्म का प्रेम श्रद्धा पूर्वक सेवन करना चाहिये और भी कई एक पतिव्रता स्त्रिया हुई हैं—जैसे कि गाधारी।

गन्धार देश के राजा की लड़की का नाम गान्धारी हुआ, जब गान्धारी का विवाह हुआ उसी समय गान्धारी ने यह जाना कि मेरा पति राजा धृतराष्ट्र जन्मान्ध है; गान्धारी ने यह विचारा कि मेरा पति तो अन्धा रहे और मैं नेत्र वाली रहूँ यह बात पतिव्रत धर्म से रहित है। उसने उसी समय अपनी दोनों आंखों पर पट्टी बांध ली और यह प्रतिज्ञा की कि अपने पति को जन्मान्ध होने के कारण तथा अन्य किसी भी कारण से मैं अपनी पति भक्ति को कभी किंचितमात्र भी कम न करूंगी। इस तरह गान्धारी भी आंखो पर पट्टी बांधकर अंधी रही, इस तरह रहने से उसकी दृष्टि सिद्ध होगई। महाभारत का जब युद्ध हुआ, तब पुत्र स्नेह से प्रेरित होकर अपने पुत्र को वज्रवत् बनाने के उद्देश्य से उस समय उसने दुर्योधन से कहा कि तुम मेरे सामने नग्न होकर निकलो क्योंकि मैं अपने आंख की पट्टी खोलकर तुमको देखूंगी, उसी समय मेरी दृष्टि तुम्हारे अंगो पर पड़ने से तुम्हारे अग वज्रवत् हो जायगें, किन्तु दुर्योधन ने लोक लज्जा से प्रेरित होकर गुप्त भाग को पुष्प आदि से छिपाकर वस्त्ररहित होकर कहा—माताजी मैं नग्न हूँ, तू पट्टी खोल, जब गान्धारी ने पट्टी खोली तो जिस अगों पर उसकी दृष्टि पड़ी वे अङ्ग वज्र होगये, किन्तु जो गुप्तभाग पुष्पोंसे बचारखा था उस पर दृष्टि नहीं पड़ने के कारण वज्र नहीं हुआ। इन सबके विवेचन से मालूम होता है कि पतिव्रता स्त्री के धर्म का कितना महत्व है कि गान्धारी की दृष्टि से ही दुर्योधन के अङ्ग

वज्र होगये। पतिव्रत धर्म की महिमा जितनी की जाय उतनी ही थोड़ी है।

दमयन्तीने बालकपन में ही राजा नल के रूप और गुण की प्रशंसा सुनकर यह निश्चय कर लिया था कि मैं राजा नल के सिवाय अन्य किसी के साथ विवाह नहीं करूंगी इस प्रकार का मानसिक संकल्प कर लिया था। देवताओं ने उसे निश्चय से हटाने की बहुत कोशिश की किंतु दमयन्ती अपने निश्चय से न हटी। स्वयंवर में जब देवताओं ने नलका रूप धारण कर लिया था तब दमयंतीने देखा कि देवता मुझसे विवाह करनेके उद्देश्यसे मुझे छलने के लिये नल का रूप धारण कर आये हैं, इन देवों में से कौनसा नल है इसकी मैं कैसे पहिचान करूं इतने में ही उसे एक युक्ति जंची और उसने सूर्य देवता के सामने कहा कि हे देव मैं प्रार्थना करती हू कि जो इनमें नल नहीं अर्थात् छल करने के लिये नल का रूप धारण किया है वे शीघ्र ही नल के रूप को छोड़ दें नहीं तो मेरे इस मन्त्रित जल से कोढ़ी हो जायं जब ऐसे वचन सुने तो देवताओं ने अपना अपना रूप बदल लिया अर्थात् नल वाले भेष को छोड़ दिया वास्तविक नल नहीं बदला तब उसी राजा नल को जयमाला पहिना कर अपना विवाह कर लिया। देखो पतिव्रताके तेज से देवताओंने भी अपने छल रूप को शीघ्र बदल लिया, उस पतिव्रता के तेज को नहीं सह सके इसके बाद भी पतिव्रता के धीरता और सहनता को दिखलाते हैं कि कई एक दिनों बाद जब राजा नल अपने भाई से

जुआ खेलते समय राज पाट सब कुछ हार चुका था केवल आप तथा दमयंती एक एक धोती पहने हुए थे उस समय दुःखित होकर नल ने बनवास जाने की तैयारी की तथा दमयंती से कहा कि तुम अपने बाप के घर इस विपती समय में चली जाओ, बनवास में अनेक कष्ट हैं और तुम्हारा कोमल शरीर है तुम यह कष्ट नहीं सह सकोगी। यह सुन कर दमयंती ने कहा कि हे प्राणनाथ जब बनवास में जाकर आप स्वयं कष्ट सहने करने को तैयार हैं तब मुझ दासी की कौनसी गिनती है; आपके चरणारविन्द की सेवा विना घर तथा पिता के घर में रहने को मैं उत्तम तथा सुखप्रद नहीं समझती हूँ। बनवास में आपके साथ रहने में ही मेरा कल्याण है, अतः मैं आपके ही संग रहूँगी। देखो घर के सुख को छोड कर बनवास की कितनी आपत्तिया सहन कर भी पति के संग रहना ही सच्चा पतिव्रत धर्म दमयती ने समझा और जब बनवास में चले गये तब दुःखप्रद प्रारब्ध के कारण देवताओं ने छल से हीरा का कबूतर बन के राजा के सामने घूमने लगे राजा ने हीरे के कबूतर को देख प्रारब्धजन्य बुद्धि द्वारा रानी से कहा—देख, इस समय बन में भी हम लोगों को हीरे के कबूतर मिले हैं, ऐसा कहकर राजा कबूतर की तरफ आधी धोती खोलकर उन पर झपटा, कबूतर ऐसे उड़े कि राजा की धोती को ले गये और राजा को नग्न कर दिया जब राजा को दमयंती ने नग्न देखा तो अपनी आधी साड़ी फाड़

कर राजा को पहिनाई और आप आधी धोती में निर्वाह करने लगी और भी बडे बडे कष्टों को सहन किया किन्तु पति को क्षण भर भी नहीं छोडा। पति ही अपनी पत्नी के कष्ट को नहीं सहन कर सके अत दु खी होकर उसका सोती हुई अकेली छोड गये जब दमयती जागी तो उसने अपने को अकेली पाई और विलाप करने लगी फिर भी विपत्ति आने लगी। उस समय किसी व्याघ्र ने इनका सतीत्व नष्ट करना चाहा किन्तु दमयती के तेज से वह व्याघ्र नष्ट हो गया। दृढ पतिव्रता ने सैकड़ों महा कठिन दु ख होने पर भी धर्म को नहीं छोडा। ईश्वर ने भी ऐसी स्त्रियों पर कृपा करके कुछ समय के बाद अपने प्रिय पति को राजपुत्र पुत्री सहित प्राप्त करवाया। सीताजी का भी कैसा पतिव्रत धर्म था कि जब भगवान् राम चन्द्रजी वनवास जाने लगे उस समय उन्होंने सीताजी से कहा—

> तदल ते वन गत्वा क्षम नहि वन तव।
> विमृशन्निह पश्यामि बहु दोषतर वनम्॥
>
> (वाल्मीक० अ० २८।२५)

हे सीता! तू वन जाने की इच्छा मत कर क्योंकि तेरे वसने योग्य वन नहीं है मैं जब विचार करता हू तब मुझे वनवास में कष्ट ही कष्ट दिखलायी पड़ते हैं इस प्रकार भगवान् रामचन्द्र ने सीताजी से अनेक वाक्य कहे वन में नाना प्रकार

के दुःख हैं तू वन मत चल; यह वाक्य सुनकर सीताजी भगवान् रामचन्द्रजी से कहती हैं—

ये त्वया कीर्तिता दोषा वने वस्तव्यतां प्रति ।
गुणानित्येव तान्विद्धि तव स्नेह पुरस्कृतान् ॥
(वाल्मीक० अ० २९।२७)

हे भगवान् रामचन्द्रजी ! वनवास के जो दोष आपने बतलाये वे सब तुम्हारे स्नेह के सामने मुझे गुण दिखलायी पड़ते हैं अर्थात् जितने वन के दोष आपने बतलाये हैं वह आपके साथ रहने से वे दोष दोष नहीं रहते हैं किन्तु गुण हो जाते हैं।

यदि मा दुखितामेवं वनं नेतुं न चेच्छसि ।
विषमग्निं जलं वाहमास्थास्ये मृत्यु कारणात् ॥
(वाल्मीक० अ० २९।२१)

यदि आप मुझ दुःखिनी को अपने साथ न ले चलोगे तो मैं विष खाकर या अग्नि में जल कर अथवा पानी में डूब कर प्राण दे दूंगी।

महा वात समुद्धूतं यन्मामप कारिष्यति ।
रजो रमण तन्मन्ये परार्घ्यमिव चन्दनम् ॥
(वाल्मीक० अ० २९।३०)

हे रामजी ! आंधी से उड़ कर जो धूल मेरे शरीर पर आकर पड़ेगी उसे मैं आपके साथ रहकर उत्तम चन्दन के समान समझूंगी।

इस प्रकार भगवती का सच्चा प्रेम तथा दृढ पतिव्रत धर्म को देखकर भगवान् रामचन्द्रजी ने सीताजी को अपने साथ वन में लेली। वन में जब सीताजी रावण से हरली गयी थी तब रावण ने बहुत समझाया किन्तु सीताजी ने उसको दूर से फटकार कर उसकी बात पर जरा भी ध्यान नहीं दिया। अपने पतिव्रत धर्म के प्रभाव से रावण को अपने शरीर से स्पर्श करने न दिया था। वन में तथा रावण के यहां अनेक कष्ट सहकर भी सीताजी अपने सच्चे दृढ पतिव्रत धर्म से किंचित् मात्र भी न हटी।

सतीजी का भी पतिव्रत धर्म देखिये कि जिसने अपने पिता दक्ष प्रजापति के यहां यज्ञ में अपने पति भगवान् शिवजी का अपमान सुनकर अपना शरीर उस यज्ञ में ही होम कर दिया था अर्थात् अपने पति की निन्दा सुनने से अपने को यज्ञ में मरना उत्तम समझा, अपने पति की निन्दा को सहन नहीं कर सकी अत: सती भगवती बडी पतिव्रता स्त्री थी।

कुन्ती तथा माद्री भी बडी पतिव्रता हुई थी। एक समय राजा पान्डु किसी हरिण का शिकार कर रहे थे, उस समय वह हरिणरूप ऋषि अपनी स्त्री से भोग विलास में रत था, राजा पाडु के तीर लगते ही उसका प्राणान्त हो गया। उस समय ऋषि ने शाप दिया कि तुम भी अपनी स्त्री से जब प्रसग करोगे तब इसी तरह प्राणांत हो जायगा। जब ऐसा राजा पाण्डु ने सुना तो बहुत दुखित हुये और अपनी स्त्रियों से कहा कि मैं अब यही जङ्गल में रहूँगा तुम लोग घर जाओ। ऐसा वचन सुन कर कुन्ती और माद्री ने

कहा—हे प्राणनाथ! जब आप वन में रहोगे तब हमारे लिये घर में जाकर रहना अति निन्दित तथा दुःखप्रद है। हम लोग भी यहां वन में रह कर आपके पास आपकी सेवा करेंगी, जब पति यहां वनवास में रह कर तप करेंगे तथा हम घर जाय यह बात अशान्तिप्रद है। इससे कहीं उत्तम तथा सुखप्रद यह बात है कि आपके पास रह कर हम आपकी सेवा करें।

कुन्ती तथा माद्री राजा के पास रह कर पति सेवा में तत्पर होकर वनवास में रहीं और अन्त में माद्री तथा कुन्ती सती होने को तैयार हो गईं किन्तु पुत्र छोटे थे इसलिये कुन्ती तो पुत्रों की रक्षा के लिये रहा तथा माद्री ने पति के संग ही अपना प्राणान्त किया अतः कुन्ती तथा माद्री पतिव्रता स्त्री थीं।

सावित्री भी ऐसी पतिव्रता थी कि मरे हुए अपने पति को यमराज से छुड़ा लाई। इसकी कथा इस तरह है कि सावित्री ने छोटी अवस्था में ही सत्यवान को अपना पति बनाने का संकल्प कर चुकी थी। पीछे से नारद मुनि से यह सुना कि सत्यवान की आयु बहुत कमती है, यह सुनकर भी सावित्री ने यह कहा कि जब मैं एक समय यह संकल्प करचुकी कि सत्यवान से विवाह करूंगी अब उसकी आयु चाहे अल्प हो, मैं अपने संकल्पको झूठा नहीं कर सकती, मैं पतिव्रता हूँ। जब मैंने सत्यवान का संकल्प कर लिया तो वह मेरा पति हो चुका अतः सावित्री ने सत्यवान से ही विवाह किया। विवाह होने के

थोडे दिन बाद ही एक समय सावित्री सत्यवान दोनों जंगल में लकडी काटने गये थे। सत्यवान लकडी काटतेकाटते पेड से गिर गया और उसका उसी समय प्राणान्त होगया यह देख सावित्री बडी दुखित होकर विलाप करने लगी, इतने में ही यमराज आ पहुँचा और सत्यवान को ले जाने लगा। सावित्री ने पूछा कि तुम कौन हो ? यमराजने कहा कि मैं यमराज हूँ। तब सावित्रीने कहा कि आपके दूत न आकर आप स्वयं कैसे आये ? यमराजने कहा—पतिव्रता स्त्री को, धर्मात्मा को मैं स्वयं लेने के लिये आता हूं तू घर जा और इसकी क्रिया कर। इतना कह कर यमराज चल दिया। थोडी दूर जाकर यमराज देखता है तो सावित्री पीछे चली आ रही है, तब यमराज ने कहा—हे सावित्री ! तू क्यों मेरे पीछे आती है तब सावित्री ने कहा कि आप मेरे पति को तो ले जारहे हैं मैं कैसे लौटूं। यम राज ने इसका ऐसा पतिव्रत धर्म देखकर सावित्री से कहा कि मैं तुझे एकवरदान देता हूं, मांग। सावित्रीने कहा, मेरे माससमुर का गया हुआ राज फिर मिल जाय। यमराज ने तथास्तु (ऐसे ही होगा) कहकर चल दिया, थोडी दूर जाकर फिर देखता है तो सावित्री फिर भी आ रही है तब यमराज ने कहा अब तुम क्यों आती हो ? सावित्री ने कहा—आप मेरे पति का ले जारहे हो इसलिये मैं आती हूं। फिर भी यमराज ने पतिव्रत धर्म की दृढता देख कर कहा कि मैं दूसरा वरदान तुझे मांगने के लिये कहता हूँ। तब सावित्री ने कहा—मेरे सास ससुर नेत्र वाले हो

जायें। तब यमराज तथास्तु कह कर चल दिया। फिर भी सावित्री आरही है यह देखकर यमराज ने कहा कि अब क्यों आती है? उसने वही कहा कि मेरे पति को ले जारहे हो इसलिये आती हूँ। यमराज ने अत्यन्त प्रसन्न होकर कहा कि तुम एक वर और माग लो। सावित्री ने कहा कि मेरे सो पुत्र हों। यमराज बिना कुछ सोचे विचारे ही तथास्तु कह कर चल दिया किन्तु फिर भी सावित्री आरही है ऐसा देख कर यमराज ने कहा—अब क्यों आती है? तब सावित्री ने कहा कि आपने मुझे यह वरदान दिया है कि तेरे सौ पुत्र हो और इधर आप पति को ले जारहे हैं तब आपका वचन कैसे सत्य होगा? यमराज अपनी गलती मानकर सत्यवान को जीवितकर छोड़ दिया फिर सावित्री अपने पति को पाकर आनन्द पूर्वक पति के साथ जीवन व्यतीत करने लगी। देखो पतिव्रत धर्म का कैसा बड़ा महत्व है कि यमराज से भी अपने पतिव्रत धर्म के प्रभाव से अपने पति को छुड़ा लिया।

चुडाला भी बडी पतिव्रता स्त्री हुई। राजा शिखरध्वजकी स्त्री का नाम चुडाला था राजा और पत्नी चुडाला दोनों ही विवेक शील, धर्मात्मा तथा वैराग्यवान थे। चुडाला ने पूर्व जन्म के विशेष अभ्यास से घर में ही आत्म ज्ञान को प्राप्त कर लिया था और राजा शिखरध्वज को भी आत्मज्ञानको प्राप्त करने की बडी इच्छा रहती थी। एक समय चुडालाने कहा—हे स्वामी यह जीवात्मा देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदिसे भिन्न साक्षी

स्वरूप है तथा वही साक्षी रूप जावात्मा सच्चिदानन्द ब्रह्म स्वरूप ही है और इस सच्चिदानन्द ब्रह्म में यह मिथ्या संसार भ्रम से भान (प्रतीत) हो रहा है। जैसे रज्जु (रस्सी) में कल्पित (मिथ्या) सर्प प्रतीत होता है इसी प्रकार यह संसार मिथ्या सर्प की तरह अत्यंत असत्त है सिवाय अद्वितीय (एक) सच्चिदानन्द ब्रह्म से भिन्न किंचित भी कोई वस्तु परमार्थ दृष्टि में (वास्तव) में कुछ है नहीं। जब इस प्रकार चुड़ाला ने अपने पति से कहा परंतु शिखरध्वज के अन्तःकरण में कुछ विक्षेप (चंचलता) रूप दोष के रहने के कारण उसको अपनी पत्नी की बात न जच कुछ थोड़े समय के बाद ही राजा को तीव्र वैराग्य हुआ और राजा एक समय रात में रानी को महल में अकेली छोड़कर वन को चला गया। जब चुड़ाला उठी तब राजा को न पाकर अपने योगबल से उड़ी और राजा को देखने लगी कि राजा घोर जंगल में जा रहा है। रानी ने सोचा कि यदि मैं अभी राजा से लौट आने की कहूँगी तो राजा न चलेगा; ऐसा विचार चुड़ाला लोटी और राज स्थान में आकर धर्म पूर्वक राजकाज संभालने लगी। थोड़े समय के बाद जब चुड़ालाने राजाका अंतःकरण तपके प्रभावसे अत्यंत शुद्ध होगया देखा तब विचार किया कि अब राजाको आत्मज्ञान सुनाना चाहिये। यदि मैं इस भेप से राजा के पास गयी तो राजा को मेरे कथन में विश्वास नहीं होगा इसलिये चुड़ाला देवदूत की तरह अपना भेप बदल कर राजा के पास वन में गई

राजा ने भी देवदूतके समान तेजस्वी देखकर आदर सत्कार किया और कहा—मुझे इस ससार मे छुड़ा दीजिये, तब देवदूत ने वही आत्मज्ञान जो पहिले घर में कहा था वही बात कही कि हे राजा ! तुझे ससार दुःख है नहीं तू तो देह, इन्द्रिय, प्राण मन, बुद्धि आदि से भिन्न सच्चिदानन्द साक्षी रूप है। यह ससार तथा ससार के सुख दुःख आदि धर्म, जैसे रस्सी में सर्पका मिथ्या भान होता है इसप्रकार तेरे आत्मस्वरूप में मिथ्या अज्ञान के कारण भान होता है तू तो सच्चिदानन्द ब्रह्म स्वरूप है और जैसे रस्सी में भूत भविष्य में सर्प नथा किंतु अन्धकार से वह रस्सी ही सर्प रूप होकर भान होने लगी इसी तरह तेरे सच्चिदानन्द आत्म स्वरूप में यह ससार तथा ससार के सुख दुःखादि धर्म भूत भविष्य में भी नहीं हैं किन्तु अज्ञान से यह भान हो रहे हैं तू तो ब्रह्म स्वरूप है और इस ब्रह्ममें किंचित् भी कोई पदार्थ नहीं है। इस प्रकार कथन सुनकर राजा को इस आत्म ज्ञान पर दृढ निश्चय होगया क्योंकि तप करने से राजा के मल विक्षेप दोष हट जाने से अन्तःकरण अत्यत निर्मल हो जाने से आत्मज्ञान हो गया। आत्मज्ञान दृढ होजाने के बाद चुड़ाला ने कहा कि हे राजन्! मैं देवदूत नहीं हूँ किंतु चुडाला आपकी स्त्री हूँ, आपको यही आत्मज्ञान घर में समझाया था किंतु आपके नहीं जचा, यहा वन में तपस्या करने से आपका चित्त निर्मल होगयाथा अत मेरा आत्म विषयक कथन आपको दृढ होगया है, अब आपको राज्यमें चलना उचित है।

तथा अधिक भाव देखना हो तो वेद पुराण और धर्मशास्त्र को देखे।

दस कन्या सती, सती पार्वती, सावित्री, सरस्वती, लक्ष्मी, रति, अदिति, केतकी, इला, कात्यायनी, गायत्री, जगधत्री, देवसेना, विनता अश्विनी, शत रूपा, देवहुती, अरुन्धती, ममता, उशिज, वाक्, रोमशा, लोपामुद्रा, विश्ववारा, शाश्वती, अपाला, घोषा, सूर्य ब्रह्मवादिनी, दक्षिणा ब्रह्मवादिनी, जुहू ब्रह्मवादिनी, रात्री ब्रह्मवादिनी, गोधा ब्रह्मवादिनी, श्रद्धा ब्रह्मवादिनी, इन्द्र की माताएं, यमी, शची ब्रह्मवादिनी, सर्पराज्ञी ब्रह्मवादिनी, स्वाहा, तपती, सावित्री, शाण्डिली, स्वयप्रभा, कुशनाभ की कन्यायें, चूडाला, विदुला, कुन्ती, माद्री, गान्धारी, रुक्मिणी, उत्तरा भद्र एक पत्नी, शुभावर्ता, भोगवती, सुदक्षिणा, इन्दुमती, वेदवती, रेणुका, धन्या, कौशल्या, सुमित्रा, कैकेयी, पतिव्रता कौशिक पत्नी, द्रौपदी, सीता, उर्मिला, अहिल्या, शबरी, सुलभा, गार्गी, मैत्रेयी, मन्दोदरी, अनुसूया, सरमा, सुलोचना, मनोरमा, जरत्कारु, आहुकि, शकुन्तला, मदालसा, सुभद्रा, दमयती, शर्मिष्ठा, सुकन्या, सुशोभना, वैशालिनी, प्रमद्वरा, विन्ध्या, सैरा इत्यादिक अनेक स्त्रियां पतिव्रता तथा ज्ञानवान हुई। अतः इन स्त्रियों का प्रत्येक स्त्री को अनुकरण करना चाहिये। जो स्त्री पतिव्रता धर्म से रहित है वह स्त्री इस लोक में दुःख पाती है और लोक निन्दित होती है और परलोक में घोर नरक में जाती है अतः स्त्रियों को प्रमाद, आलस्य और अभि·

मान आदि रहित होकर श्रद्धा और प्रेम से पति की सेवा में स्त्री को लगना चाहिये। पतिव्रता धर्म का पालन करने से इस लोक में स्त्री सुख पाती है, सब लोग उसकी प्रशंसा करते हैं तथा परलोक में उत्तम लोक को प्राप्त होती है। पतिव्रता स्त्री अपना, अपने पति का और कुटुम्ब का, सबका ही कल्याण करती है।

* इति अष्टम रत्न *

निषिद्ध कर्म दो प्रकार के हैं—

(१) सामान्य निषिद्ध (२) विशेष निषिद्ध।

सामान्य निषिद्ध ।

नास्तिक्यं वेदनिन्दां च देवताना च कुत्सनम् ।
द्वेषं दम्भं च मानं च क्रोधं तैक्ष्ण्यं च वर्जयेत् ॥
(मनु० ४।१६३)

नास्तिकता (ईश्वर, वेद और शास्त्र में अविश्वास) वेद और देवताओं की निंदा, द्वेष, दम्भ, अभिमान, क्रोध और क्रूरता नहीं करनी चाहिये।

परित्यजेदर्थकामौ या स्यातां धर्म वर्जितौ ।
धर्मं चाप्य सुखादर्कं लोक विक्रुष्टमेव च ॥
(मनु० ४।१७६)

जो अर्थ और काम धर्म के विरुद्ध हों उन्हे त्याग देना चाहिये; जैसे चोरी आदि पाप हैं, अतः पाप कर्म करके जो धन संग्रह करना है उसे त्याग दे। दीक्षा के दिन में यजमान को स्त्री का संभोग करना पाप है उसे त्याग दे और जिस धर्म के करने से परिणाम में दुःख हो उस धर्म को भी न करे। जैसे जिस गृहस्थ को पुत्रादि परिवार का पालन करने का भार है उसको सर्वस्व दान कर देना उचित नहीं है, प्राणी को सताने वाला कर्म भी न करे; जैसे गौवध आदि।

ब्रह्मचारी के निषिद्ध कर्म।

मधु मांसाञ्जनोच्छिष्ट शुक्त स्त्री प्राणिहिंसनम्।
भास्करालोकनाश्लील परिवादांश्च वर्जयेत् ॥
(याज्ञ० ब्रह्म० ३३)

ब्रह्मचारी को मधु और मांस नहीं खाना चाहिये, अंजन और तेल नहीं लगाना चाहिये, किसी का झूठा नहीं खाना चाहिये, कठोर वचन नहीं बोले, स्त्री संग तो सर्वथा छोड़ देना चाहिये, सांझ सवेरे सूर्य को न देखे, अश्लील भाषा (लज्जा के वचन) न बोले, दूसरों की निंदा न करे।

गृहस्थ के निषिद्ध कर्म।

नोपगच्छेत्प्रमत्तोऽपि स्त्रियमार्तव दर्शने।
समान शयने चैव न शयीत तया सह ॥
(मनु० ४।४०)

कामार्त होने पर भी स्त्री के रजो दर्शन होने पर निषिद्ध जो प्रथम तीन दिन हैं उन तीनों दिनों में स्त्री संग न करे और रजस्वला स्त्री के साथ एक बिछौने पर भी न सोवे।

वैरिणं नोपसेवेत सहायं चैव वैरिणः।
अधार्मिकं तस्करं च परस्यैव च योषितम् ॥
(मनु० ४।१३३)

शत्रु और शत्रु के सहायक, पापी चोर और दूसरों की स्त्री इन सब से मित्रता नहीं करनी चाहिये।

न हीदृश मनायुष्य लोके किंचन विद्यते ।
यादृश पुरुषस्येह परदारोपसेवनम् ॥
(मनु० ४।१३४)

ससार में पुरुष की उम्र घटाने वाला ऐसा पाप कोई दूसरा नहीं है जैसा पर स्त्री गमन है अत इसे त्याग देना चाहिये ।

आचार्यं च प्रवक्तार पितर मातर गुरुम् ।
न हिंस्याद् ब्राह्मणान् गाश्च सर्वांश्चैव तपस्विन ॥
(मनु० ४।१६२)

आचार्य (उपनयन पूर्वक वेद का अध्यापन करने वाला) प्रवक्ता (वेद के अर्थ का व्याख्याता) गुरु (थोडा या बहुत शास्त्र द्वारा उपकार करने वाला उपाध्याय) माता और पिता, ब्राह्मण, गाय और तपस्वी इन सब की हिंसा नहीं करनी चाहिये अर्थात् इनके विरुद्ध कुछ भी आचरण नहीं करना चाहिये ।

वानप्रस्थ के निषिद्ध कर्म ।

वर्जयेन्मधु मास च भौमानि कवकानि च ।
भूस्तृण शिग्रुक चैव श्लेष्मातक फलानि च ॥
(मनु० ६।१४)

मधु (शहद), मांस, छत्राक नाम का साग, भूस्तृण, (मालव देश का प्रसिद्ध एक प्रकार का साग शिग्रुक) वाहीक देश का प्रसिद्ध साग श्लेष्मातक फल ये सब वानप्रस्थ आश्रम में नहीं खाना चाहिये ।

त्यजेदाश्वयुजे मासि मुन्यन्नं पूर्व संचितम् ।
जीर्णानि चैव वासांसि शाक मूल फलानि च ॥
(मनु० ६।१५)

पहिले का संचित किया हुआ मुनि का अन्न, (नीवार आदि) पुराने कपडे, साग, मूल, फल इन सब को आश्विन महीने में नहीं खाना चाहिये ।

न फालकृष्टमश्नीयादुत्सृष्टमपि केनचित् ।
न ग्राम जातान्यार्तोपि मूलानि च फलानि च॥
(मनु० ६।१६)

वन में भी खेत का उपजा हुआ अन्न जिसे खेत के मालिक ने छोड भी दिया है उस अन्न को भी नहीं खाना चाहिये तथा गाव में जो फल मूल उत्पन्न हुए हों क्षुधार्त्त होने पर भी उन्हे नहीं खाना चाहिये ।

संन्यासी के निषिद्ध कर्म ।

अतिवादास्तितिक्षेत नावमन्येत कचन ।
न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित् ॥
(मनु० ६।४७)

कोई अतिजल्प कथा करे तो संन्यासी उसको सहन कर ले पर किसी का अपमान न करे, इस मनुष्य देह को पाकर किसी के साथ शत्रुता न करे ।

क्रुध्यन्तं न प्रति क्रुद्धेयदाक्रुष्टः कुशलं वदेत् ।
सप्त द्वारावकीर्णां च न वाचमनृतांवदेत ॥
(मनु० ६।४८)

कोई क्रोध करे तो उसका उत्तर संन्यासी क्रोध करके न दे कोई निन्दा करे तो भी उसकी निन्दा स्वयं न करे किन्तु स्वय प्रिय वचन बोले । नेत्र आदि पांच ज्ञानेन्द्रिय मन और बुद्धि इन सातों से ग्रहण किये जाने वाले विषयों की चर्चा न करे । अर्थात् विषयों में आसक्त न हो, मिथ्या भाषण न करे ।

इन्द्रियाणां निरोधेन राग द्वेष क्षयेण च ।
अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते ॥
(मनु० ६।६०)

इन्द्रियों के निग्रह से, राग द्वेष के विनाश से, प्राणियों की अहिंसा से संन्यासी मोक्ष पाने का अधिकारी होता है ।

चारों वर्णों के निषिद्ध धर्म ।

वरं स्वधर्मो विगुणो न पारक्यः स्वनुष्ठितः ।
परधर्मेण जीवन्हि सद्यः पतति जातितः ॥
(मनु० १०।९७)

अपना धर्म किसी अंश में न्यून भी हो तो वही अच्छा है किन्तु दूसरे का धर्म सर्वाङ्ग सम्पन्न होने पर भी अच्छा नहीं है, क्योंकि दूसरे के धर्म का आचरण करता हुआ मनुष्य शीघ्र ही अपनी जाति से पतित होता है, अतः दूसरे के धर्मों का आचरण नहीं करना चाहिये ।

ब्राह्मण के निषिद्ध धर्म ।

सद्यः पतति मांसेन लाक्षया लवणेन च ।
त्र्यहेण शूद्रो भवति ब्राह्मणः क्षीरविक्रयात् ॥
(मनु० १०।९२)

मांस, लाख और नमक बेचने से ब्राह्मण शीघ्र पतित होता है और दूध बेचने से तीन दिन में शूद्र होता है अतः ब्राह्मण ये सब काम न करे ।

क्षत्रिय के निषिद्ध धर्म ।

त्रयो धर्मा निवर्तन्ते ब्राह्मणात्क्षत्रियं प्रति ।
अध्यापनं याजनं च तृतीयश्च प्रतिग्रहः ॥
(मनु० १०।७७)

ब्राह्मण के कारण तीन धर्म क्षत्रियों से निवृत्त हैं—अध्यापन, याजन और तीसरा प्रतिग्रह-दान लेना (अर्थात् इन तीनों का अधिकार क्षत्रिय को नहीं है) ।

वैश्य के निषिद्ध धर्म ।

वैश्यं प्रति तथैवैते निवर्तेरन्निति स्थितिः ।
न तौ प्रति हि तान्धर्मान्मनुराह प्रजापतिः ॥
(मनु० १०।७८)

उसी प्रकार वैश्य से भी ये तीन धर्म निवृत्त हैं ऐसी शास्त्र की मर्यादा है (अर्थात् अध्यापन, याजन और तीसरा प्रतिग्रह ये तीन कर्मों को वैश्य भी न करे), क्योंकि प्रजापति मनु ने उन दोनों के लिये ये धर्म नहीं कहे ।

शूद्र के निषिद्ध धर्म ।

न शूद्रे पातकं किंचिन्न च संस्कारमर्हति ।
नास्याधिकारो धर्मेऽस्ति न धर्मात्प्रतिषेधनम् ॥
(मनु० १०।१२६)

लहसुन आदि पदार्थ खाने से शूद्र को पाप नहीं होता क्योंकि उसके लिये कोई संस्कार भी नहीं है, वेद के मंत्र सहित अग्निहोत्र आदि का अधिकार नहीं है और पाक, यज्ञादि धर्म कार्य्य में करने का उसे निषेध भी नहीं है ।

* इति नवम रत्न *

नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित, काम्य इस भेद से चार प्रकार के विहित कर्म होते हैं।

नित्य कर्म ।

जिस वर्ण और जिस आश्रम के लिये जो कर्म श्रुति और स्मृति में नियम से प्रतिदिन करने के लिये उपदिष्ट हैं उस वर्ण और उस आश्रम के लिये वे नित्य कर्म हैं और जिसके करने से कुछ धर्म न हो किन्तु नहीं करने से पाप हो जाय उन कर्मों को नित्य कर्म कहते हैं; जैसे "अहरहः संध्यामुपासीत" रोज रोज संध्या वन्दन उसके अधिकारी को करना चाहिये।

सन्ध्या स्नान जपो होम स्वाध्यायो देवतार्चनम् ।
आतिथ्यं वैश्व देवं च षट् कर्माणि दिने दिने ॥

संध्या, स्नान, जप, यज्ञ, सत् शास्त्रों का अध्ययन, देवता की पूजा, अतिथि सत्कार, वैश्व देव ये कर्म हररोज करना चाहिये, नित्य कर्म नहीं करने से अधिकारी को पाप होता है जिससे भविष्य मे उसे दुःख भोगना पड़ता है।

नैमित्तिक कर्म ।

जो कर्म श्रुति स्मृति मे अधिकारी को किसी कारण के उपस्थित होने पर किसी किसी समय करने के लिये कहा गया हो उसे नैमित्तिक कर्म कहते हैं। जैसे श्राद्ध आदि कर्म नैमित्तिक कर्म है क्योकि श्राद्ध प्रतिदिन नहीं किया जाता है पितरों के क्षयाह के (मृत्यु दिन) उपस्थित होने पर किया जाता है।

ध्यान रखना चाहिये कि नैमित्तिक कर्म करने से धर्म उत्पन्न नहीं होता किन्तु नहीं करने से पाप हो जाता है। अत. उपर्युक्त नित्य नैमित्तिक कर्म केवल प्रत्यवाय हटाने के उद्देश्य से किये जाते हैं; जैसा कहा है—

नित्य नैमित्तिके कुर्यात् प्रत्यवाय जिवासया।

अर्थात् प्रत्यवाय (पाप) हटानेके लिये नित्य नैमित्तिक कर्म करना चाहिये। प्रायश्चित कर्म भी दो प्रकार के होते हैं—(१) साधारण (२) असाधारण।

साधारण प्रायश्चित।

इस जन्म में अथवा जन्मान्तर में अपने द्वारा जो निषिद्ध कर्म किये गये हों जो वे अज्ञात हो उन सब अज्ञात निषिद्ध कर्मों की निवृत्ति के लिये जो कर्म श्रुति स्मृति में उपदिष्ट हैं उन्हें साधारण प्रायश्चित कहते हैं। जैसे—गंगास्नान, ईश्वरभजन, स्वाध्याय अध्ययन, तीर्थ सेवन आदि हैं।

असाधारण प्रायश्चित।

इस जन्म में अपने द्वारा जो निषिद्ध कर्म ज्ञात रूप से किये गये हैं उन ज्ञात निषिद्ध कर्मों में से एक २ की निवृत्ति के लिये जो एक २ अलग २ श्रुति स्मृति में कर्म कहे गये हैं उन्हें असाधारण प्रायश्चित कहते हैं। जैसे त्रिरात्रोपवास, कृच्छ्र चान्द्रायण व्रत आदि कर्म हैं। ध्यान रखना चाहिये कि कोई निषिद्ध कर्म

अपने से न किया जाय क्योंकि प्रायश्चित करने में यही कठिनाई होती है।

प्रायश्चित करने से दो फल होते हैं—एक तो पाप निवृत्ति दूसरा व्यवहार्यता अर्थात् समाज उसे पाप मुक्त समझकर उसके साथ खान पान आदि व्यवहार करने लग जाते हैं, किन्तु शास्त्रोक्त रीति से प्रायश्चित करने से उसमें लेश मात्र भी त्रुटि न रहने से तो दोनों फल मिलते हैं, यदि कुछ भी त्रुटि प्रायश्चित में होजाती है यथावत प्रायश्चित नहीं किया जाता है तो व्यवहार्यता तो होजाती है अर्थात् अपने समाज मे उसका खान पान चलने लगता है किन्तु दुरदृष्ट (पाप) की निवृत्ति नहीं होती है अर्थात् उसे जन्मान्तर में उस पाप का फल दुःख भोगना ही पड़ता है। अतः निषिद्ध कर्म ज्ञात रूप से कभी नहीं करना चाहिये। काम्य कर्म भी दो प्रकारके होते हैं—(१) विहित काम्य कर्म (२) निषिद्ध काम्य कर्म।

विहित काम्य कर्म।

स्वर्ग, स्त्री, पुत्र, धन आदि अभिलषित पदार्थ की कामना से प्रेरित मनुष्य के लिये अभिलषित पदार्थ की प्राप्ति के उपायभूत जो कर्म श्रुति स्मृति में कहे गये हैं उन्हें विहित काम्य कर्म कहते हैं। जैसे—

ज्योतिष्टोमेन यजेत स्वर्ग कामः।

अर्थात् जिसे स्वर्ग की इच्छा हो वह 'ज्योतिष्टोम' नामक यज्ञ करे। जिज्ञासु पुरुष को विहित काम्य नहीं करना चाहिये

क्योंकि मत् शास्त्रों में धन, स्त्री, स्वर्ग, पुत्र आदि मोक्ष पथ के बाधक हैं ये तो मोह रूप हैं।

ज्ञानी की प्रवृत्ति।

ज्ञानवान् गृहस्थ की जो इन कर्मों में प्रवृत्ति होती है वह देहाभिमान से रहित होती है। जैसे मल-मूत्र त्याग, स्नान, भोजनादि क्रिया में लोगों की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है, किसी विशेष कामना को लेकर नहीं होती है, उसी प्रकार ज्ञानी की प्रवृत्ति धार्मिक कर्मों में वासना-रहित होती है क्योंकि ज्ञानी को किसी प्रकार के भोग भोगने की इच्छा नहीं रहती है। ज्ञानी पुरुष उन कर्मों को व्यवहारिक सत्य समझते हैं, वास्तव सत्य नहीं, वास्तव में तो असत्य (मिथ्या) ही समझते रहते हैं।

जिज्ञासु की प्रवृत्ति।

शास्त्रोक्त रीति से विवाह करना, अपनी धर्म-पत्नी से सत् पुत्र उत्पन्न करना और स्त्री, पुत्र आदि परिवार रक्षा के लिये धन प्राप्त करना, इन सब कर्मों को जिज्ञासु पुरुष अर्थात् जिनकी बुद्धि वेदान्त शास्त्रों में अथवा निष्काम भाव से भगवद्भक्ति में लगी हुई है वे पुरुष तो प्रबल वासना रहित केवल गार्हस्थ्य के पालन करने के लिये गृहस्थ का कर्तव्य समझ कर करते हैं। जिज्ञासु पुरुष अर्थात् जो वेदान्त के अध्ययन में लगे हुए हैं, साधनावस्था में हैं अथवा निष्काम भाव से भगवद्भक्त हैं, दैवी संपत्ति से युक्त हैं, उनकी प्रवृत्ति प्रबल वासना से

रहित होती है, उन्हें अल्प वासना रहती है। पूर्वोक्त धार्मिक कर्मों को वास्तव मिथ्या या व्यवहारिक सत्य समझने का उन्हें दृढ़ निश्चय नहीं रहता है; किन्तु उन कर्मों में दोष दृष्टि अवश्य रहती है। वे धर्म पूर्वक विषय-भोग की इच्छा करते भी रहते हैं और उसके लिये प्रयत्नशील भी रहते हैं, आवश्यक्तानुसार विषय प्राप्त हो जाने पर उन्हें संतोष होजाता है, तृष्णा अधिकाधिक अज्ञानी विषयी की तरह नहीं होती है।

अज्ञानी की प्रवृत्ति।

जो अज्ञानी विषयी पुरुष हैं उनकी प्रवृत्ति उपरोक्त कर्मों मे वासना सहित होती है उन्हें विषय भोग भोगने की प्रबल इच्छा रहती है।

आत्मज्ञान रहित पुरुष समस्त शास्त्र विहित कर्म को वास्तव सत्य समझ कर स्त्री, पुत्र, धन आदि विषयों में प्रवृत्त होते हैं, अभिलषित विषय आवश्यकतानुसार प्राप्त होने पर भी उन्हें सन्तोष नहीं होता किन्तु अधिकाधिक अभिलषित पदार्थ प्राप्त होने पर अधिकाधिक तृष्णा बढ़ती जाती है। यही ज्ञानी, जिज्ञासु, अज्ञानी इन तीनों में तारतम्य है। सारांश यह है कि जो वैदिक कर्म का अनुष्ठान या जो लौकिक उपाय हैं उन्हे अज्ञानी विषयी गृहस्थ तो दृढ़ राग पूर्वक प्रबल इच्छा से उनकी वास्तविक सत्यता समझ कर करते हैं। जो पुरुष अनन्य भगवद्भक्त हैं अथवा वेदान्त शास्त्र का श्रद्धा पूर्वक निरन्तर दीर्घ समय तक श्रवण, मनन, निदिध्यासन करते रहते हैं वे स्त्री, पुत्र, धन आदि

विषय के साधक कर्मों में प्रबल इच्छा से अथवा दृढ़ राग पूर्वक प्रयत्न नहीं करते हैं किन्तु गृहस्थाश्रम की रक्षा के लिये उस आश्रम का कर्तव्य समझ कर करते हैं और विषय अप्राप्त होने पर किसी प्रकार का विक्षेप नहीं होता, 'प्रारब्धानुसार ही प्राप्त होता है' ऐसा समझ कर सन्तुष्ट रहते हैं और जो ज्ञानी गृहस्थ है उसकी प्रवृत्ति प्राय राग द्वेष रहित कर्तव्य, भोक्तृत्व आदि अभिमान रहित स्वाभाविक क्रिया की तरह प्रारब्धानुसार होती है। कुछ भी विक्षेप उन्हें नहीं होता। केवल लोक संग्रह रक्षण के लिये प्रवृत्ति होती है; जैसे—

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि सपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥
(भ० गी० ३।२०)

जनकादि ज्ञानी जन भी आसक्ति रहित कर्म द्वारा लोक संग्रह को देखता हुआ कर्म करने को ही योग्य है। ज्ञानी तथा जिज्ञासु पुरुष को स्त्री, पुत्र, धन आदि के लिये प्रबल इच्छा या राग तथा प्रतिकूल पदार्थ प्राप्त होने पर द्वेष करना उचित नहीं है क्योंकि विषयों की प्रबल इच्छा मोक्ष मार्ग का प्रतिबन्धक है, अत' जिज्ञासु की प्रवृत्ति प्रबल इच्छा रहित कर्मों में होनी चाहिये। केवल गार्हस्थ्य आश्रम का कर्तव्य समझ कर शास्त्रानुसार कर्मों में प्रवृत्ति करनी उचित है और विषयों का क्षणिक तुच्छ परिणाम में दु:ख रूप समझ कर उसमे अनासक्त रहना चाहिये। जैसा भर्तृहरि महाराज ने कहा है—

भोग रोग भय कुले च्युति भय वित्ते नृपालाद्भयम् ।
माने दैन्य भय बले रिपुभय रूपे जराया भयम् ॥
शास्त्रे वादभय गुणे खल भय काये कृतान्ताद्भयम् ।
सर्व वस्तु भयान्वित भुवि नृणा वैराग्यमेवाभयम् ॥
(वैराग्य शतक भर्तृहरि)

भोग में रोग का भय है, कुल मे पतित होने का भय है, धन मे राजा का भय है, मान में दीनता का भय है, बल में रिपु का भय है, रूप में बुढ़ापा का भय है, शास्त्र में वाद का भय है, गुण में खल का भय है और शरीर में मृत्यु का भय है, इस प्रकार भूमि में सब वस्तुऐं भय रूप हैं मनुष्यों को एक वैराग्य ही निर्भय स्थान है । इससे लौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार के विषय भोगों से जिज्ञासु निवृत्त होकर वास्तव सत्चित् आनन्द स्वरूप परमात्मा में मन लगावे । वेदान्त शास्त्र का नित्य प्रति श्रद्धा रखकर दीर्घकाल तक बराबर श्रवण, मनन, निदिध्यासन करते हुए अपने वास्तव स्वरूप का साक्षात्कार कर परमानन्द स्वरूप मोक्ष में स्थित हो जाय । यथा—

शनै शनै रुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसस्थं मन' कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥
(भ० गी० ६।२५)

अभ्यास करने से धीरे धीरे मन को विषयों से उपरत (विरक्त) करना चाहिये । धैर्य युक्त बुद्धि द्वारा मन को साक्षी रूप आत्मा में स्थित करके आत्मा के सिवाय और किसी का चिन्तन न करे ।

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥
(भ० गी० ६।२६)

स्वभाव से चंचल अतएव स्थिर होकर नहीं रहने वाला जो यह मन है उस मन को विक्षेप करने वाले जो जो विषय हैं उन उन विषयों से मन को रोक कर परमानन्द स्वरूप आत्मा में लगावे। इत्यादि परामर्श से जिज्ञासु को चाहिये कि वह अपने मन को विषय वासना में न लगाकर आत्म साक्षात्कार के जो साधन भूत हैं उनमें लगावे। स्त्री पुत्र आवश्यकतानुसार धन की प्राप्ति और उसकी रक्षा में चित्त को विक्षिप्त न कर गृहस्थ का कर्त्तव्य समझ कर उसका अनासक्त भाव से सेवन करे क्योंकि यह मनुष्य देह बड़े पुण्यात्मक अदृष्ट से मिलता है ऐसे दुर्लभ देह को प्राप्त कर जन्म मरण की निवृत्ति करने वाला जो अपने स्वरूप का ज्ञान है उसे नहीं प्राप्त किया तो कुछ भी प्राप्त नहीं हुआ। जैसा कहा है—

आहार निद्रा भय मैथुनं च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम् ।
ज्ञानं हि तेषामधिको विशेषः ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः ॥

भोजन, नींद, भय, मैथुन ये चार तो मनुष्य और पशु दोनों के समान हैं किन्तु मनुष्य में एक मात्र ज्ञान ही विशेष है जो मनुष्य उस ज्ञान से रहित है वह पशु के तुल्य है। प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है कि इस मानव देह को पाकर ज्ञान प्राप्त करे

वृथा समय न खोवे पुरुषार्थ करे जिससे ज्ञान प्राप्त हो। इस प्रकार नित्य, नैमित्तिक, काम्य और प्रायश्चित्त इन चार प्रकार के कर्मों को अपने वर्ण और आश्रम के अनुसार निष्काम भाव से करना अत्यन्त आवश्यक है। नित्य नैमित्तिक कर्म इसलिये आवश्यक हैं कि उनके नहीं करने से प्रत्यवाय (पाप) उत्पन्न हो जाता है, उसके करने से प्रत्यवाय उत्पन्न नहीं होता। निष्काम भाव से नित्य नैमित्तिक कर्म करने से अन्तःकरण शुद्ध होता है और साधारण प्रायश्चित्त इसलिये आवश्यक है कि उसके करने से पूर्व के जन्मान्तर के तथा इस जन्म के अज्ञात पापों की निवृत्ति हो जाती है। पापों की निवृत्ति होने से अन्तःकरण स्वतः ही निर्मल रहता है और असाधारण प्रायश्चित्त तो इसलिये कर्त्तव्य है कि ज्ञात पापों की निवृत्ति उसके करने से होती है, अतः अन्तःकरण स्वतः ही निर्मल रहता है। नित्य, नैमित्तिक, साधारण प्रायश्चित्त और असाधारण प्रायश्चित्त करना अपने अपने वर्ण और आश्रम के अनुसार शास्त्र रीति से आवश्यक है। भविष्य में पाप कर्म न करे केवल पुण्यात्मक कर्म ही करे, क्योंकि पुण्य कर्म करने और पाप कर्म नहीं करने से अन्तःकरण की शुद्धता होती है और अन्तःकरण शुद्ध हो जाने से, ज्ञान के साधन में प्रवृत्ति होने से ज्ञान प्राप्त होता है। जैसे किसी कपड़े में मलिन वस्तु के संयोग से मलीनता आ जाती है और जब साबुन आदि स्वच्छता के साधक वस्तु के

द्वारा मलीनता दूर की जाती है, कपड़ा स्वच्छ हो जाता है, तब उसमें दूसरा रंग ठीक लग सकता है इसी प्रकार अन्तःकरण रूपी वस्त्र में पाप कर्म रूपी मलीनता के सयोग से अन्तःकरण मलिन हो गया है उसकी निवृत्ति नित्य नैमित्तिक तथा साधारण प्रायश्चित्त और असाधारण प्रायश्चित्त रूपी साबुन से होती है। जब उन नित्य नैमित्तिक प्रायश्चित्त कर्मों के करने से और भविष्य में मलीनता स्वरूप पाप कर्मों के संयोग नहीं होने देने से अन्तःकरण रूपी वस्त्र शुद्ध तथा निर्मल हो जाता है, तब ज्ञान रूपी रंग उस अन्त.करण रूपी कपड़े में चढ़ जाता है। नित्य नैमित्तिक साधारण प्रायश्चित्त और असाधारण प्रायश्चित्त भी अत्यन्त आवश्यक है। काम्य कर्म को तो प्रबल वासना से रहित होकर और आसक्ति से रहित होकर केवल अपने आश्रम का धर्म समझ कर निष्काम भाव से करे और उस काम्य कर्म को करने से फल न मिले तो भी सन्तुष्ट रहे अधीर, दीन, दुःखी न हो, प्रारब्धानुसार ही समझ चित्त में विक्षेप न करे। इस तरह नित्य नैमित्तिक साधारण प्रायश्चित्त और असाधारण प्रायश्चित्त और काम्य कर्मों का भी निष्काम भाव से अनुष्ठान करना चाहिये, क्योंकि निष्काम भाव से कर्म करने से ही अन्त.करण शुद्ध होता है। निष्काम भाव से किये गये कर्म की शास्त्र में प्रशंसा की गयी है और निष्काम कर्म करने वाले की भी शास्त्र में प्रशंसा की गयी है। जैसे कहा है कि—

यज्ञ दान तपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥
(भ० गी० १८।५)

यज्ञ, दान और तप ये तीन कर्म त्यागने के योग्य नहीं हैं, किन्तु ये अवश्यमेव कर्त्तव्य हैं; क्योंकि यज्ञ, दान और तप ये तीनों ही जिज्ञासुओं के अन्तःकरण को पवित्र करने वाले हैं।

एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्त्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥
(भ० गी० १८।६)

हे पार्थ! ये यज्ञ, दान और तप कर्म आसक्ति और उनके फलों को त्यागकर कर्त्तव्य हैं; यह मेरा निश्चित उत्तम मत है।

नियतं संगरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥
(भ० गी० १८।२३)

जो कर्म नियमानुकूल राग द्वेष से रहित होकर फल की इच्छा न रखते हुए कर्त्ता के द्वारा किया जाता है उस कर्म को सात्त्विक कर्म कहते हैं।

मुक्त संगोऽनहंवादी धृत्युत्साह समन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्त्ता सात्त्विक उच्यते ॥
(भ० गी० १८।२६)

आसक्ति से रहित, अहंकार का वचन न बोलने वाला, धैर्य और उत्साह से युक्त कार्य की सिद्धि और असिद्धि दोनों में ही

हर्ष शोकादि विकारो से रहित ऐसा जो कर्त्ता है वह सात्विक कर्त्ता कहा जाता है।

भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में आसक्ति और प्रबल वासना से रहित कर्म और कर्त्ता को सात्विक तथा सर्वोत्तम कहा है। अपने वर्णाश्रम के अनुकूल नित्य नमित्तिक आदि कर्म कर्त्तव्य है, वर्णाश्रम के प्रतिकूल कदापि नहीं करना चाहिये। जैसे कहा है—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधन श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

(भ० गी० ३।३५)

स्वधर्म (जिस वर्ण और जिस आश्रम के लिये जो धर्म वेद में कथित है वह उस वर्ण और उस आश्रम का स्वधर्म है।

स्वधर्म (अपना धर्म) विगुण (सर्वांग सुन्दर न होने पर भी वा अधूरा किया गया भी) स्वनुष्ठित (सर्वांग रूप से किये गये) पर धर्म से (जो धर्म अपने लिये वेद में विहित नहीं है उससे) बहुत श्रेष्ठ है। परधर्ममें रहकर जीने से स्वधर्म में मरना बहुत अच्छा है; क्योंकि अपने धर्म के पालन करने से इस लोक मे कीर्ति होती है और परलोक मे स्वर्ग आदि उत्तम लोक प्राप्त होता है। परधर्म के सेवन करने से इस लोक मे अपयश होता है तथा परलोक में नरक होता है, इसीलिये परधर्म भयप्रद कहा है। जैसे—

श्रद्धा हानिस्तथा सूया दुष्टचित्तत्वमूढते,
प्रकृतेर्वशनर्तित्व रागद्वेषौ च पुष्कलौ ।
परधर्मे रुचित्व चेत्युक्ता दुर्मार्गवाहका ॥

वेद तथा अन्य सत् शास्त्रों मे और गुरु के वाक्यों में श्रद्धा नहीं रखना और शास्त्र पुराणों में दोष दिखाना, दुष्ट चित्त होना, मूढ होना, पुरुपार्थ को छोडकर प्रकृति के वशीभूत होना, बहुत राग द्वेष रखना तथा दूसरों के धर्म में अभिरुचि, ये सब दुष्ट मार्ग में ले जाने वाले हैं।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरत ससिद्धि लभते नर ।
स्वकर्मनिरत सिद्धि यथा विन्दति तच्छृणु ॥
(भ० गी० १८।४५)

अपने अपने कर्म में लगा हुआ मनुष्य सिद्धि (अन्त करण की शुद्धि) को प्राप्त कर लेता है। अपने कर्म में तत्पर मनुष्य जिस प्रकार सिद्धि प्राप्त करता है उसे सुनो। भविष्य पुराण में कहा गया है—

धर्माच्छ्रेय समुद्दिष्ट श्रेयोभ्युदय लक्षणम ।
स तु पचविध' प्रोक्तो वेदमूल सनातन ॥
वर्णधर्म स्मृतस्त्वेक आश्रमाणामत' परम् ।
वर्णाश्रमाणा तृतीयस्तु गौणो नैमित्तिकस्तथा ॥
वर्णत्वमेकमाश्रित्य यो धर्म' सप्रवर्तते ।
वर्ण धर्म. स उक्तस्तु यथोपनयन नृप ॥

यस्त्वाश्रमं समाश्रित्य अधिकारः प्रवर्त्तते ।
स खल्वाश्रम धर्मः स्यात् भिक्षादंडादिको यथा ॥
वर्णत्वमाश्रमत्वं च योऽधिकृत्य प्रवर्त्तते ।
स वर्णाश्रम धर्मस्तु मौंजाद्या मेखला यथा,
यो गुणेन प्रवर्त्तेत गुण धर्मः स उच्यते ॥
यथा मूर्द्धाभिषिक्तस्य यो धर्मः संप्रवर्त्तते ।
नैमित्तिकः संविज्ञेयः प्रायश्चित्त विधिर्यथा ॥

धर्म से श्रेय होता है और कल्याण को श्रेय कहते हैं। धर्म सनातन है और वेद ही उस धर्म का मूल है अर्थात वह धर्म केवल वेद से ही समझा जाता है, अन्य किसी प्रमाण से नहीं जानाजाता अर्थात् अनुमान आदि से धर्मका निर्णय नहीं किया जा सकता। वह धर्म पांच प्रकारके कहे गये हैं। जैसे—वर्ण धर्म, आश्रमधर्म, वर्णाश्रम धर्म, गुण धर्म और नैमित्तिक धर्म ।

वर्ण धर्म ।

ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि सिर्फ किसी वर्ण के उद्देश्य से जो धर्म शास्त्रों में कहा गया है उसे वर्ण धर्म कहते हैं; जैसे उपनयन संस्कार ।

आश्रम धर्म ।

ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास इन चारों आश्रमों में से सिर्फ किसी आश्रम के ही उद्देश्य से जो धर्म कहा गया है उसे आश्रम धर्म कहते हैं, जैसे—भिक्षा, दंड धारण आदि ।

वर्णाश्रम धर्म ।

वर्ण और आश्रम दोनों के उद्देश्य से जो धर्म कथित हो उसे वर्णाश्रम धर्म कहते हैं, जैसे मौंजी, मेखला धारण। मौञ्जी (मूज की) मेखला ब्राह्मण वर्ण के लिये ही है और ब्रह्मचर्य आश्रम में ही है।

गुण धर्म ।

किसी गुण को लेकर जो धर्म कहा गया है उसे गुण धम कहते हैं; जैसे—राज्य का अभिषेक होने पर अर्थात राजगद्दी पर बैठने पर प्रजा का पालन करना है।

नैमित्तिक धर्म ।

किसी निमित्त को लेकर जो धर्म कहा गया है उसे नैमित्तिक धर्म कहते हैं। जैसे प्रायश्चित्त विधि। धर्म शास्त्र के प्रवर्त्तक "हारीत" ने चार प्रकार के धर्म कहे हैं, जैसे "अथाश्रमिणः धर्मः पृथग्धर्मों विशेष धर्मः समान धर्मः कृत्स्न धर्मश्चेति" पृथग् धर्म, विशेष धर्म, समान धर्म, कृत्स्न धर्म।

पृथग्धर्म ।

अपने से भिन्न आश्रम वाले के लिये जो धर्म कहा गया है उसे पृथग्धर्म कहते हैं। जैसे चातुर्वर्ण्यम् धर्म।

विशेष धर्म ।

अपने ही आश्रम विशेष के लिये जो धर्म शास्त्र में कहा गया है उसे विशेष धर्म कहते हैं। जैसे भिक्षा दंड धारण आदि।

समान धर्म ।

ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, सन्यासी इन सब का समान जो धर्म कहा गया है उसे समान धर्म कहते हैं। जैसे महाभारत में कहा गया है.—

आनृशंस्यमहिंसा चाप्रमादः संविभागिता ।
श्राद्ध कर्मातिथे पंच सत्यमक्रोध एव च ॥
स्वेषु दारेषु सन्तोषः शौचं नित्यानुसूयता ।
आत्म ज्ञानं तितिक्षा च धर्मः साधारणो नृप ॥

सरल स्वभाव, अहिंसा, सावधानता, काल का विभाग कर कार्य करना अर्थात् यथा समय सब कार्य करना, देवताओं ऋषियों और पितरों का श्राद्ध कर्म करना, अतिथि का सत्कार करना, सत्य बोलना, क्रोध नहीं करना, अपनी स्त्री में ही सन्तोष रखना, पवित्रता, किसी अच्छी बात में दोष न लगाना, आत्मज्ञान औरसहनशीलता येसर्व वर्ण के साधारण धर्म हैं अर्थात् सब वर्णं के लिये ये धर्म कहे गये हैं। सब इन्हें कर सकते हैं। शूद्र भी बिना वेद मंत्र के जल-दान तथा पितरो के दिन मे अपने सजातीय को भोजन कराना आदि श्राद्ध कर्म कर सकता है।

कृत्स्न धर्म ।

निष्काम कर्म का जो अनुष्ठान करना है उसे कृत्स्न धर्म कहते हैं। धर्म शास्त्र प्रवर्त्तक आपस्तम्ब ने कहा है—

सर्व वर्णानां स्वधर्मानुष्ठाने परम परिमितं सुखं ।
ततः परिवृत्तौ कर्म फल शेषेण जाति रूपं वर्ण वृत्तं
मेधां प्रज्ञा द्रव्याणि धर्मानुष्ठानमिति प्रतिपद्यन्ते ।

सब वर्णों को अपने अपने धर्म के अनुष्ठान करने से बहुत श्रेष्ठ और अपरिमित सुख प्राप्त होता है और उस सुख से जब पुनः परिवर्त्तन होने लगता है तो अपने कर्म के अवशिष्ट फल से जाति, रूप, वर्ण, शील, स्मरण शक्ति, बुद्धि, द्रव्य, धर्म का आचरण ये सब प्राप्त होते हैं। धर्मशास्त्र के प्रवर्त्तक गौतम ने कहा है कि—

"वर्णा आश्रमाश्च स्वकर्म निष्ठाः प्रेत्य कर्मफलमनुभूय ततः शेषेण विशिष्ट देश जाति कुलरूपायुः श्रुत वृत्त वित्त सुख मेधसो जन्म प्रतिपद्यन्ते विष्वञ्चो विपरीतानश्यन्ति ।"

सब वर्ण और सब आश्रम में अपने अपने अधिकार के अनुसार रहने वाले मनुष्य अपने अपने कर्मों का पालन करते हुए मर जाने पर परलोक में उन कर्मों का उत्तम फल (स्वर्ग आदि) प्राप्त कर अवशिष्ट कर्मों से उत्तम देश, उत्तम जाति, उत्तम कुल, रूप, आयु, विद्या, शील, धन, सुख तथा बुद्धि इनसे युक्त जन्म प्राप्त करते हैं और इच्छानुसार चलने वाले जो अपने कर्म का पालन नहीं करते हैं वे नरक आदि नीच लोक में जन्म प्राप्त कर कीड़े मकोड़े होकर पुरुषार्थ करने से वंचित हो जाते हैं। धर्म शास्त्र के प्रवर्त्तक हारीत ने कहा है कि—

काम्यै केचिद्यज्ञदानैस्तपोभिर्लब्ध्वा लोकान्पुनरायान्ति जन्म।
कामैर्मुक्ता सत्ययज्ञा सुदाना तपोनिष्ठाश्चाक्षयान्यान्ति लोकान्॥

कामना से जो यज्ञ, दान और तपस्या की जाती है उनसे स्वर्ग आदि उत्तम लोक भोगकर पुन जन्म धारण करना पडता है अर्थात् इस मर्त्यलोक में आकर नाना प्रकार जन्म मरण रूप दुःख भोगना पडता है और जो कामना से रहित यज्ञ, दान, तप करने वाले होते हैं वे मरकर अक्षय लोक प्राप्त करते हैं। उन्हे पुन सांसारिक दुःख भोगना नहीं पडता। साराश यह है कि उन्हीं यज्ञ, दान, तप कर्मों की कामना रहने से जो फल होता है, कामना नहीं रहने से वह फल नहीं, दूसरा फल होता है, सकाम और निष्काम कर्मो का अलग अलग फल होता है। भविष्य पुराण में कर्मो का इस प्रकार निवेचन किया गया है —

फलं विनाप्यनुष्ठान नित्यानामिष्यते स्फुटम्।
काम्याना स्वफलार्थन्तु दोपघातार्थमेव तु॥
नैमित्तिकाना करणे त्रिविध कर्मणा फलम्।
क्षय केचिदुपात्तस्य दुरितस्य प्रचक्षते॥
अनुत्पत्ति तथा चान्ये प्रत्यवायस्य मन्वते।
नित्या क्रिया तथा चान्ये अानुपगि फल विदुः॥

फल के बिना अपना कर्त्तव्य समझ कर नित्य कर्म किये जाते हैं और काम्य कर्मों का अनुष्ठान फल की अभिलाषा से अथवा दोषों के निवारण करने के लिये किये जाते हैं। नैमि-

त्तिक कर्मों के तीन प्रकार के फल कहे गये हैं। किसी के मत से नैमित्तिक कर्म नहीं करने से पाप की उत्पत्ति होती है, अत पाप के अनुत्पादन के लिये नैमित्तिक कर्म किये जाते है। किसी के मत मे नित्य क्रिया का ही आनुषङ्गिक (अङ्गरूप) नैमित्तिक कर्म है।

यत प्रवृत्तिर्भूताना येन सर्वमिद ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानव ॥
(भ० गी० १८।४६)

जिस परमात्मा से समस्त भूतो की उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है उस परमेश्वर की अपने वर्णाश्रमानुकूल कर्मो द्वारा उपासना कर मनुष्य सिद्धि (अन्त करण की शुद्धि) प्राप्त करता है और शुद्ध अन्त करण होने से आत्म ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

सहज कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृता ॥
(भ० गी० १८।४८)

हे कुन्ती पुत्र! दोष से युक्त भी स्वाभाविक कर्मो को नही छोडना चाहिये, क्योंकि धूएँ से जैसे अग्नि ढकी रहती है उसी प्रकार सब कर्म किसी न किसी सामान्य दोष से ढके ही रहते हैं। इन सब शास्त्रों की गवेषणा से निश्चित होता है कि जो जिज्ञासु पुरुष हैं, जिन्हें आत्म साक्षात्कार की कामना है तथा जो जन्म मरण रूप दु:ख से सदैव के लिये छुटकारा चाहते हैं उनको

अन्त.करण की शुद्धि पर्यन्त अपने वर्णाश्रमानुसार कर्म करना चाहिये। पर वैराग्य उत्पन्न न हो तब तक कभी भी विहित कर्मों का त्याग नहीं करना चाहिये। जो पुरुष आत्मज्ञान प्राप्त कर चुके हैं, जो ज्ञानी हैं, जिज्ञासु नहीं हैं, कृतकृत्य हो चुके हैं, वेदान्त शास्त्र के श्रवण, मनन, निदिध्यासन से आत्मा का साक्षात्कार जिन्होंने कर लिया है, उन पुरुषों के लिये कर्म करना केवल लोक संग्रह के लिये ही होता है।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च सन्न्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥
(भ० गी० ३।४)

विहित कर्मों के नहीं करने से ही मनुष्य निष्काम नहीं हो सकता तथा सन्यास आश्रम ले लेने से ही ज्ञान निष्ठा रूप सिद्धि को नहीं प्राप्त कर सकता।

नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥
(भ० गी० ३।५)

कोई भी प्राणी एक क्षण मात्र भी बिना कर्म किये कभी नहीं रह सकता। सब प्राणी प्रकृति के सत्त्व, रज, तम इन गुणों के द्वारा परवश होकर कर्म करने के लिये बाधित हो जाते हैं।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥
(भ० गी० ३।६)

जो पुरुष इन्द्रियों को हठ से रोकता है किन्तु सांसारिक विषयों का मन से स्मरण करता है अर्थात् निष्कर्म बनने के आडम्बर से इन्द्रियों के द्वारा विहित कर्म नहीं करता, किन्तु मन से सब विषयभोगका ध्यान रखता है वह मिथ्याचारी, धूर्त्त और पाखंडी कहलाता है।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥
(भ० गी० ३।७)

हे अर्जुन ! जो पुरुष मन से तो श्रोत्र आदि ज्ञान इन्द्रियों को रोककर, हस्त पाद आदि कर्मेन्द्रियोंसे विहित कर्म करता है और उसमें आसक्त नहीं रहता वह विशिष्ट पुरुष है।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥
(भ० गी० ३।८)

तुम शास्त्र से नियत किये गये कर्म करो क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना ही श्रेष्ठ है और कर्म नहीं करने से इस शरीर की रक्षा भी नहीं कर सकते हो।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥
(भ० गी० ३।१९)

इत्यादि विचार कर के तुम अनासक्त होकर शास्त्र विहित कर्म करो, अनासक्त होकर कर्म करता हुआ पुरुष सत् चित् आनन्द स्वरूप ब्रह्मको प्राप्त होजाते हैं।

तात्पर्य यह है कि निष्काम कर्म करने से अन्तःकरण की शुद्धि होती है और अन्तःकरण शुद्ध होने से आत्म ज्ञान के जो अन्तरंग साधन शम, दम आदि तथा वेदान्त शास्त्र के श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि हैं उनमे प्रवृत्ति होजाती है अर्थात् वे अन्तरंग साधन प्राप्त होजाते हैं और उन श्रवण आदि का निरंतर आदर से दीर्घ काल तक अभ्यास करने से आत्म साक्षात्कार होकर ब्राह्मी स्थिति होती है। जैसे पातंजलि भगवान् ने अपने योग दर्शन मे कहा है—

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः ॥

आदर पूर्वक रोज २ बहुत काल तक सेवन करने से चित्त की दृढ़ता होती है अर्थात् चित्त की स्वाभाविक चंचलता नष्ट होकर स्थिरता आ जाती है। यहां रहस्य यह है कि दीर्घ काल तक अभ्यास करने पर भी यदि निरन्तर न किया जाय, कभी २ किया जाय, जैसे कुछ अभ्यास करके फिर दो मास के बाद फिर कुछ अभ्यास किया जाय, फिर कुछ रोज के बाद कुछ अभ्यास किया जाय तो इस क्रम से अभ्यास करने से चित्त निश्चल नहीं होता । निरन्तर भी (क्रम भंग न करके) दीर्घ काल पर्यन्त अभ्यास करने से चित्त निश्चल (स्थिर) नहीं हो सकता यदि श्रद्धा से अभ्यास न किया जाय और निरन्तर तथा श्रद्धा से अभ्यास करने पर भी चित्त निश्चल नहीं होसकता है यदि दीर्घ काल तक अभ्यास न किया गया। अतः निरन्तर (क्रम भंग न करके) श्रद्धा से दीर्घ काल तक अभ्यास करने से

चित्त निश्चल होता है अर्थात् ऐसे अभ्यास करने से चित्त में श्रव आत्म साक्षात्कार करने की योग्यता प्राप्त होती है इन श्रवण आदि साधनों के अभ्यास करने मे चित्त की तब प्रवृत्ति होती है जब वर्णाश्रमानुकूल निष्काम कर्मों के अनुष्ठान करने से चित्त के मल विक्षेप दोष नष्ट हो जावें। जिस पुरुष के चित्त के विक्षेप दोष जन्मान्तर में किये गये निष्काम कर्मों के द्वारा विनष्ट होचुके हैं अर्थात् जिनकी प्रवृत्ति श्रवण आदि साधनों में अच्छी तरह हो चुकी है उन्हें भी मल विक्षेप दोष हटाने के लिये नहीं किन्तु लोक सग्रह के लिये और भावी प्रत्यवाय हटाने के लिये आवश्यक (नित्य नैमित्तिक) कर्म करना चाहिये।

निष्काम भाव से कर्मों मे प्रवृत्ति ज्ञानी के सिवाय अन्य किसी की नहीं होती। ससार मे चार प्रकार के पुरुष हैं—पामर, जिज्ञासु, ज्ञानी और मुक्त। इनमें से पामर की प्रवृत्ति वर्णाश्रमानुकूल नहीं होती, विषयी पुरुष की यथा रीति कर्म में प्रवृत्ति होती है किन्तु स्त्री, पुत्र, धन आदि की कामना तथा स्वर्ग आदि पारलौकिक सुख की कामना से प्रवृत्ति होती है, निष्काम प्रवृत्ति नहीं होती। जिज्ञासु (मुमुक्षु) पुरुष की भी जो श्रवण आदि साधन में प्रवृत्ति होती है वह भी अविद्या और अविद्या से उत्पन्न होने वाले समस्त कार्य की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति के लिये ही होती है अत वह प्रवृत्ति भी निष्काम नहीं है।

जिज्ञासु पुरुष की प्रवृत्ति कामना तथा स्नेह बन्धन का कारण नहीं है किन्तु मोक्ष का कारण है। अन्य पुरुषोंकी कामना (प्रवृत्ति) बन्धन का कारण है इसीलिये वह सकाम कही जाती है और बन्धन का कारण नहीं होने से जिज्ञासु की प्रवृत्ति निष्काम कही जाती है। भगवान् पतंजलि ने योग सूत्र के विभूति पाद में कहा है—

स्थान्युपनिमन्त्रणे संगस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसंगात्।

महेन्द्र आदि देवताओं के द्वारा स्वर्ग आदि परलोकमें दिव्य वस्तुओं के भोग करने के लिये जब योगियो को निमंत्रण दिया जाता है, तब उस निमंत्रणका स्वीकार योगीको कभी नहीं करना चाहिये। सर्वथा उसका संग छोड़ देना चाहिये और उसमें अहंकार भी नहीं करना चाहिये कि मुझे इन्द्र तक निमंत्रण देते हैं क्योंकि ऐसा करने से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। वहां का सुख भोग कर उसे कालान्तर में पूर्ववत् संसारी होना पड़ता है और नाना प्रकार का क्लेश भोगना पड़ता है। इस अनिष्ट प्राप्ति की सभावना से योगी को स्वयं प्राप्त विभूतियों को भी छोड़ देने के लिये उपदेश किया गया है। जो योगी विभूतियों का उपयोग करता है वह अपने योगाभ्यास का दुरुपयोग करता। इसी प्रकार जो कर्मकांडी स्वर्ग सुख भोगने के लिये कर्म करता है वह भी बन्धन में ही फंसा रहता है, किन्तु जो अन्तःकरण की शुद्धि के लिये ही शास्त्र विहित कर्म करता है वह बंधनको प्राप्त नहीं होता। जो पुरुष भगवान की अनन्य उपासना (भक्ति) करता है

वह भी बंधन में नहीं फंसता। भगवान् के सिवाय जिसे इस लोक या परलोक में कुछ भी नहीं है और जो पुरुष निर्विकल्प समाधि का लक्ष्य रखकर योगाभ्यास करता है, योग सिद्ध बडी से बडी विभूतियों को भी ठुकरा देता है वह भी बंधन में नहीं फसता। जो पुरुष अविद्या और अविद्या से उत्पन्न इस ससार का विनाश और परमानन्द रूप मोक्ष का लक्ष्य रखकर उसके अन्तरङ्ग साधन श्रवण आदि में प्रयत्न करता है वह भी बंधन में नहीं फसता। कहने का सारांश यह है कि उपर्युक्त निष्काम कर्मकाडी भक्त (उपासक), योगी तथा जिज्ञासुओं की प्रवृत्ति बंधन का कारण नहीं है। परम्परा से अथवा साक्षात् सब का लक्ष्य मोक्ष ही होता है, इसीलिये भगवान् ने गीता में सकाम और निष्काम दोनों प्रकार के भक्तों की प्रशसा की है; जैसे—

चतुर्विधा भजन्ते मा जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥
(भ० गी० ७।१६)

हे भरत वंशियों में श्रेष्ठ अर्जुन! उत्तम कर्म करने वाले चार प्रकार के लोग मेरा भजन करते हैं, अर्थात् चार प्रकार के भक्त होते हैं। उनमें तीन तो सकाम भक्त हैं और चौथा ज्ञानी निष्काम भक्त है। आर्त होकर भक्त होते हैं, जो शत्रु, आधि, व्याधि आदि विपत्तियों से ग्रस्त होकर उनसे छुटकारा पाने की इच्छा से ईश्वर का भजन करते हैं।

आर्त भक्त ।

यज्ञ के भग होने के कारण क्रुद्ध होकर इन्द्र के वर्षा करने पर व्रज के लोगों ने ईश्वर का भजन किया था। जरासन्ध के द्वारा कैद किये गये राजाओं ने, सभा में जुआ खेलने के समय वस्त्र खींचे जाने पर द्रौपदी ने तथा ग्राह से आक्रान्त होकर गजेन्द्र ने ईश्वर का भजन किया था।

जिज्ञासु भक्त ।

जिज्ञासु अर्थात् आत्मज्ञानार्थी (मुमुक्षु), मुचुकुन्द और राजर्षि मैथिल जनक और श्रुतदेव इस श्रेणी के भक्त थे। इन लोगों ने मोक्ष की इच्छा से ईश्वर का भजन किया था।

अर्थार्थी भक्त ।

अर्थात इस मर्त्य लोक मे और परलोक में जो भोग करने की सामग्री है उसको चाहने वाला; इस मर्त्य लोक की उपभोग सामग्री के लिये सुग्रीव और निभीषण ने ईश्वर का भजन किया था और परलोक की उपभोग सामग्री के लिये ध्रुव ने ईश्वर का भजन किया था। उपरोक्त तीनों प्रकार के भक्त भगवान् का भजन करते हैं।

ज्ञानी भक्त ।

अर्थात् निष्काम भक्त, सनक, नारद, प्रह्लाद, पृथु, शुकदेव आदि ज्ञानी हुए हैं उक्त श्लोक मे जो चकार है वह निष्काम प्रेम भक्ति का भी बोध कराता है अर्थात् निष्काम

प्रेमी भक्त का भी ज्ञानी में अन्तर्भाव है। जो निष्काम है, केवल शुद्ध प्रेम के कारण ही ईश्वर का भजन करते हैं जैसे गोपिका आदि और अक्रूर, युधिष्ठिरादि। उपर्युक्त ये सब ही भक्त हैं, सब की प्रशंसा भगवान् ने की है, जैसे—

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानीत्वात्मैव मे मतम्।

(भ० गी० ७।१८)

अर्थात् सब मेरे भक्त उत्कृष्ट ही हैं किन्तु ज्ञानी तो मेरी आत्मा ही है। तथापि जो पामर भक्त नहीं हैं उनसे सकाम भक्त अच्छे हैं क्योंकि भगवद्भक्ति से उनका मन शुद्ध होकर ज्ञान मार्ग में प्रवृत्त हो सकता है। इसी उद्देश्यसे सकाम भक्त की भी प्रशंसा की गयी है। कहने का तात्पर्य यह है कि मानव समाज अपने अपने वर्ण और आश्रमके अनुकूल श्रुति स्मृति पुराणों में कथित रीति के अनुसार व्यवहार रक्खे, उससे विपरीत व्यवहार नहीं करे, अर्थात् उन्हें नित्य नैमित्तिक और प्रायश्चित कर्म करना चाहिये। सारांश यह है कि वर्णाश्रमानुकूल कर्मों के द्वारा अन्तः-करण के मल दोष की निवृत्ति होजाने से अन्त करण की शुद्धि होकर तत्त्वज्ञान होता है, इसलिये वर्णाश्रमानुकूल कर्मों का अनुष्ठान करना आवश्यक है; क्योंकि वह परम्परासे मोक्ष का साधन है।

शंका—जो मनुष्य जन्म से लेकर मरण पर्यन्त कर्मों का अनुष्ठान कर चुका है, किन्तु यदि उसकी मोक्ष शास्त्र में प्रवृत्ति नहीं देखी गयी तो क्या उसका कर्म करना व्यर्थ ही हुआ ?

समाधान—यह नियम नहीं है कि इस जन्म में ही कर्मों के अनुष्ठान करते २ अन्त करण की शुद्धि होकर मोक्ष शास्त्र में प्रवृत्ति होजाय या तत्त्वज्ञान होजाय, क्योंकि पुरुष के अन्त-करण में मलदोष का तारतम्य (न्यूनाधिक्यता) रहता है अर्थात किसी के अन्त करण में कम मलदोष रहता है, किसी के अधिक, किसी के अत्यधिक और किसी के अत्यल्प मल दोष रहता है। किसी के एक जन्म के सत् कर्मों के अनुष्ठान से ही अन्त करण शुद्ध होजाता है तो किसी को अनेक जन्मों तक कर्मों का अनुष्ठान करना पडता है। कभी न कभी अवश्यमेव मलदोष की निवृत्ति होकर अन्त करण शुद्ध होजाता है तब मोक्ष शास्त्र में प्रवृत्ति और तत्त्वज्ञान होजाता है। पूर्व जन्मों के किये हुए कर्मों के द्वारा आगे के जन्मों में विलक्षण प्रतिभा शक्ति बढती चली जाती है जिससे पूर्व जन्म से उत्तर जन्म में निष्काम कर्म करने की अधिक अभिरुचि होती है। गीता यही कहती है—

तत्र तं बुद्धि संयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥

(भ० गी० ६।४३)

हे कुरुनन्दन (अर्जुन)! परम पवित्र राजा के घर अथवा विद्वान् योगी के घर में जन्म लेकर योगभ्रष्ट मनुष्य अनायास ही पूर्व देह के साधन कल्याण को प्राप्त कर लेते हैं, प्राप्त ही नहीं करते किन्तु जो भूमिका प्राप्त हो चुकी है उससे आगे की भूमिका

के लिये प्रयत्न भी करते हैं ज्ञान की सात भूमिका हैं। योगवाशिष्ठ में रामचन्द्रजी ने भगवान् वशिष्ठजी से पूछा—

एकामथ द्वितीयां वा तृतीयां भूमिका मुने ।
आरूढस्य मृतस्याथ की दृशी भगवन् गति. ॥

हे भगवन् ! तत्त्व साक्षात्कार के साधन स्वरूप प्रथम, द्वितीय और तृतीय भूमिका को प्राप्त करके जो मनुष्य मर जाते हैं उनकी क्या गति होती है ?

योगभूमिकयोत्क्रान्त जीवितस्य शरीरिणः ।
भूमिकाशानुसारेण क्षीयते पूर्व दुष्कृतम् ॥
तत. सुर विमानेषु लोकपाल पुरेषु च ।
मेरु पवन कुञ्जेषु रमते रमणी सखः ॥
ततः सुकृत सभारे दुष्कृते च पुराकृते ।
भोग क्षयात् परिक्षीणे जायन्ते योगिनो भुवि ॥
शुचीना श्रीमता गेहे गुप्ते गुणवता सताम् ।
जनित्वा योगमेवैते सेवन्ते योगवासिता. ॥
तत्र प्राग्भावनाभ्यस्त योग भूमि क्रम बुधाः ।
दृष्ट्वा परिपतन्त्युच्चैरुत्तर भूमिका क्रमम् ॥

प्रथम, द्वितीय, तृतीय भूमिका के अन्तर्गत ही जो मनुष्य मर जाते हैं अर्थात् साधन में ही रह जाते हैं, उससे आगे की चौथी भूमिका जो तत्त्व साक्षात्कार रूप है उसमें नहीं पहुँच

सक्ते, भूमिका के अनुसार उनके पूर्व जन्म के पाप विनष्ट हो जाते हैं, तब वे देवलोक जाकर दिव्य उत्तमोत्तम भोग करते हैं। जब भोग करने से उनका बिलकुल धर्म क्षीण हो जाता है तब मर्त्य लोक मे आकर पवित्र राजा के घर में या गुणवान् सज्जन पुरुष के घर में जन्म लेकर योगाभ्यास करते हैं और आगे की भूमिका प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। पूर्व जन्म का सस्कार अपने आप उधर प्रवृत्त करा देता है। तत्त्व ज्ञान की सात भूमिका और निरूपण वशिष्ठ भगवान् ने इस प्रकार किया है—

ज्ञानभूमि शुभेच्छा स्यात्प्रथमा समुदाहृता ।
विचारणा द्वितीया स्यात् तृतीया तनुमानसा ॥
सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात्ततोऽससक्ति नामिका ।
पदार्थाभाविनी षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता ॥

प्रथम शुभेच्छा उत्पन्न होती है उसे ज्ञान की प्रथम भूमिका कहते हैं, दूसरी विचारणा, तृतीय तनुमानसा, चौथी सत्त्वापत्ति, पाचवीं असंसक्ति, छठी पदार्थाभाविनी और सातवीं तुर्यगा है।

प्रथम भूमिका ।

नित्य अनित्य वस्तु विवेक करके जो इस लोक और परलोक के विषय भोग से वैराग्य है उस वैराग्य के उत्पन्न होने से शम, दम, श्रद्धा, तितिक्षा, सर्व कर्म सन्यास रूप साधनों को प्राप्त करके जो मोक्ष की इच्छा रूप शुभेच्छा उत्पन्न होती है उसे ज्ञान की प्रथम भूमिका कहते हैं। अर्थात् साधन चतुष्टय की प्राप्ति को ही प्रथम भूमिका कहते हैं।

द्वितीय भूमिका।

गुरु के समीप जाकर वेदान्त वाक्यों का जो उनसे विचार करना है उसे द्वितीय भूमिका कहते हैं अर्थात् श्रवण, मनन, संपत्ति।

तृतीय भूमिका।

श्रवण मनन से परि निष्पन्न जो तत्त्व ज्ञान है उसकी निर्वि-चिकित्सता रूप 'तनु मानसा' नामक अवस्था को तृतीय भूमिका कहते हैं। इससे तत्त्व ज्ञान में असंभावना विपरीत भावना निवृत्त हो जाती है, इसको निदिध्यासन रूप संपत्ति कहते हैं।

चौथी भूमिका।

यह तत्त्व साक्षात्काररूप ही है और जीवन्मुक्ति की अवस्था है पंचम, षष्ठ, सप्तम भूमिका तो जीवन्मुक्तिके अवान्तर भेद ही हैं। यदि यह कहा जाय कि ज्ञानी ब्राह्मणों के घर जन्म लेने से मोक्ष के लिये प्रयत्न कर सकता है, वहां कुछ भी प्रमाद का कारण नहीं है, किन्तु महाराज चक्रवर्ति के कुल में जन्म लेनेसे कैसे मोक्ष के लिये प्रयत्न कर सकता है क्योंकि वहां अनेक प्रकार के विषय भोग बाधक हो सकते हैं।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्द ब्रह्मातिवर्त्तते॥

(भ० गी० ६।४४)

पूर्व जन्म के अर्जित ज्ञान संस्कार से ही यह वशीभूत हो जाता है अर्थात् मोक्ष साधन में लग जाता है यद्यपि भोग सामग्री के कारण स्वयं वह अवश भी है अर्थात् मोक्ष के लिये प्रयत्न नहीं करता है किन्तु पूर्व जन्म के अभ्यास से ही योगभ्रष्ट की मोक्ष की तरफ प्रवृत्ति हो जाती है। अकस्मात् वह विषय वासना से हटकर मोक्ष के साधन में प्रवृत्त हो जाता है और योग का अर्थात् मोक्ष के साधन ज्ञान का जिज्ञासु होकर उसी जन्म में शब्द ब्रह्म का (वेद कर्म का) अतिक्रमण करता है अर्थात् कर्मानुष्ठान करने के अधिकार का उल्लघन करके ज्ञान का अधिकारी हो जाता है इससे यह भी साबित होता है कि कर्म, ज्ञान दोनों का समुच्चय एक पुरुष में एक काल में नहीं रह सकता है।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्ध किल्बिषः ।
अनेक जन्म संसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥

(भ० गी० ६।४५)

प्रयत्न करके वेदान्त शास्त्र के श्रवण, मनन, निदिध्यासनादि के अभ्यास करने वाले जिज्ञासु अच्छी प्रकार सारे पापों से हट कर अनेक जन्मों में जाकर पूर्ण सिद्ध हो जाते हैं और मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं। यहां यह रहस्य है कि तत्त्व ज्ञान प्राप्त होना पुरुषके पुरुषार्थ तथा अन्तःकरण में रहनेवाले मल, विक्षेप और आवरण दोष पर निर्भर है क्योंकि मन्द अथवा तीव्र जैसा पुरुषार्थ (लक्ष्य प्राप्त करने का समुचित उपाय) होता है और मल विक्षेप आदि दोषों का जैसा आधिक्य रहता है वैसा ही समय

लगता है। यह नियम नहीं है कि तत्त्व ज्ञान एक ही जन्म में हो या अनेक जन्मों में हो अतः जिसके चित्त में मल विक्षेप दोष हो, जिसका तत्त्व ज्ञान के साधन की तरफ एकाग्र रूप से चित्त नहीं लगता हो वह पुरुष निष्काम कर्मों का अनुष्ठान, भगवद्भक्ति, उपासना आदि द्वारा उन दोषों का विनाश करके तत्त्व ज्ञान का जिज्ञासु बनकर वेदान्त वाक्यों का श्रवण करे जिससे आवरण दोष नष्ट होता है। जिस पुरुष की प्रवृत्ति यथाविधि वेदान्त वाक्यों के श्रवण में प्रारम्भ में ही हो चुकी है, उसने पूर्व जन्मों में ही मल विक्षेप दोषों को सत्कर्मों के द्वारा विनष्ट कर दिया है यह अनुमान सिद्ध है। यद्यपि निष्काम कर्म और ज्ञान इन दोनों का स्वरूप भिन्न है अर्थात् दोनों का परस्पर विरोध है, क्योंकि कर्मकांड के अनुष्ठान में अनेक साधनों की जरूरत है और तत्त्व ज्ञान के पथ में आने से सारे विहित और निषिद्ध कर्मों का संन्यास कर देना पड़ता है इसलिये निष्काम कर्म और ज्ञान (कर्म संन्यास) इन दोनों का विरोध प्रत्यक्ष सिद्ध है तथापि दोनों का फल एक ही है। जो वस्तु परम्परा करके निष्काम कर्मों के अनुष्ठान से मिलती है वही वस्तु तत्त्व ज्ञान से साक्षात् ही मिलती है। जैसा कहा है—

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पंडिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥
(भ० गी० ५।४-५)

सांख्य (संन्यास) योग (निष्काम कर्मानुष्ठान) इन दोनों का फल अलग अलग है यह अज्ञानी लोग कहते हैं पंडित नहीं कहते क्योंकि इन दोनों में से एक का भी शास्त्र के अनुसार सेवन करने से दोनों का फल प्राप्त हो जाता है। संन्यासियों को अर्थात् ज्ञानियों को जो स्थान मिलता है वही प्रसिद्ध मोक्ष रूप स्थान योगियों को भी प्राप्त होता है। संन्यास और योग इन दोनों का एक ही मोक्ष रूप फल है। समस्त विहित और निषिद्ध कर्मों का त्याग करके तत्त्व ज्ञान में शास्त्र के अनुसार आरूढ़ होनेको संन्यास कहते हैं और ऐसे ज्ञाननिष्ठ व्यक्ति को संन्यासी कहते हैं । निष्काम रूप से नित्य नैमित्तिक प्रायश्चित्तरूप कर्मों के अनुष्ठान को यहां योग कहते हैं और ऐसे वर्णाश्रमानुसार निष्काम कर्मकर्ता को यहां योगी कहते हैं। वास्तव में दोनों का एक ही फल है क्योंकि जो संन्यासी है अर्थात् बिना इस जन्म में कर्मकांड के अनुष्ठान करने से ही जो ज्ञाननिष्ठ होचुके हैं अर्थात् तत्त्व साक्षात्कार कर चुके हैं उनके पूर्व जन्मों के कर्मानुष्ठान से ही ऐसी योग्यता प्राप्त हुई है यह अनुमान सिद्ध है। जो योगी हैं अर्थात् निष्काम कर्मानुष्ठान में लगे हुए हैं, उन्हें भी अन्तःकरण शुद्ध हो जाने से भविष्य में अवश्यमेव ज्ञाननिष्ठा प्राप्त हो जाती है, ज्ञाननिष्ठा प्राप्त हो जाने

प्राप्त करने की शक्ति उसमें नहीं रहती है वे पुरुष निष्काम रूप से वर्णाश्रमानुकूल कर्मानुष्ठान करें। यदि विक्षेप दोष भी रहे जिससे चित्त सैकड़ों आशाओं में फँसा रहता है, सदैव चंचल रहता है तो उसे एकाग्र करने के लिये सर्वतोभावेन भगवद्भक्ति करें अथवा यम नियम आदि योगाभ्यास या प्रणव आदि की उपासना या सत् शास्त्रों के श्रवण, मनन आदि करें।

वेदान्त वाक्यों के निरन्तर श्रवण, मनन करनेसे विक्षेप दोष के साथ आवरण दोष भी विनष्ट होजाता है।

* इति दशम रत्न *

भक्ति की मीमांसा।

चित्त के मल दोष और विक्षेप दोषों को निवृत्त करके चित्त को निर्मल तथा निश्चल करने वाली ज्ञान, वैराग्य की प्राप्ति कराने वाली, सालोक्य आदि चार प्रकार के मुक्ति-सौख्य को देने वाली जो श्रीभगवान् की भक्ति है, अब यहां उस भक्ति का विवेचन करते हैं।

वासुदेवे भगवति भक्तियोग. प्रयोजित. ।
जनयत्याशु वैराग्य ज्ञान यद्ब्रह्म दर्शनम् ॥
(भाग० ३।३२।२३)

शास्त्र के अनुसार भगवान् वासुदेव की की गयी जो भक्ति है वह भक्ति वैराग्य तथा ब्रह्म साक्षात्कार कराने वाले ज्ञान को शीघ्र ही उत्पन्न कर देती है।

न तथा ह्यघवान् राजन् पूयेत तप आदिभिः।
यथा कृष्णार्पितप्राणस्तत्पूरुष निषेवया ॥
(भाग० ६।१।१६)

हे राजन्! पापी मनुष्य भगवान् श्रीकृष्ण में अपने मन को अर्पण करके भगवद्भक्त पुरुषों की सेवा के द्वारा जैसा पवित्र होता है, तपस्या आदि से वैसा पवित्र नहीं होता।

सध्रीचीनो ह्यय लोके पन्थाः क्षेमोऽकुतोभय. ।
सुशीला. साधवो यत्र नारायणपरायणाः ॥
(भाग० ६।१।१७)

संसार में यह भक्तिमार्ग सरल कल्याणप्रद और भय से सर्वथा रहित है। सरल स्वभाव वाले साधुगण इस भक्ति मार्ग में आकर नारायण में ही तत्पर होजाते हैं।

मदाश्रयाः कथा मृष्टाः शृण्वन्ति कथयन्ति च।
तपन्ति विविधास्तापा नैतान्मद्गत चेतसः॥
(भाग० ३।२५।२३)

वे साधुगण मेरी पवित्र कथा सुनते और दूसरों को कहते रहते हैं। उनका चित्त सब समय मुझ भगवान् में ही लगा रहता है इसीलिये संसार के अनेक प्रकार के जो ताप हैं वे उन्हें दुःखी नहीं कर सकते।

ते न स्मरन्त्यतितरां प्रियमीश मर्त्यं ये चान्वदः सुत सुहृद्गृहवित्तदाराः। ये त्वब्जनाभ भवदीय पदारविन्द सौगन्ध्य लुब्धहृदयेषुकृत प्रसंगाः॥
(भाग० ४।९।१२)

हे कमलनाभ! आपके चरण कमल की सुगन्धि के लिये ही जिनका चित्त आकृष्ट हो चुका है, ऐसे भक्त पुरुषों का जो लोग संग करते हैं वे सब से अत्यन्त प्रिय जो अपना शरीर है उसको और उसके पीछे प्रिय जो पुत्र, मित्र, गृह, धन, स्त्री हैं उनको भी भूल जाते हैं।

अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी।
जरयत्याशु या कोशं विजीर्णमनलो यथा॥
(भाग० ३।२५।३३)

श्रीभगवान् की जो निष्काम भक्ति है वह भक्ति सिद्धि से भी श्रेष्ठ है क्योकि वह पञ्चकोशात्मक लिङ्ग शरीर को, जो वासना का घर है उसे शीघ्र विनष्ट कर देती है जैसे खाये हुए अन्न को जठरानल (पेट की अग्नि) परिपक्व कर देता हे जिस प्रकार श्रोत्र आदि इन्द्रियों की शब्द आदि विषयों में स्वाभाविक प्रवृत्ति होती रहती है उसी प्रकार जब सत्त्व मूर्ति भगवान् श्रीकृष्ण में इन्द्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति होने लगे तब उसको निष्काम भक्ति कहते हैं। जिस साधक को वह भक्ति प्राप्त है उसके लिये अनायास ही मुक्ति प्राप्त है।

यत्पाद पकज पलाश विलास भक्त्या कर्माशय ग्रथित-मुद्ग्रथयन्ति सन्त.। तद्वन्नरिक्तमतयो यतयोऽपि रुद्धस्रोतो-गणास्तमरण भज वासुदेवम्।

(भाग० ४।२२।३९)

जिस भगवान् के सुन्दर कमलपत्र की तरह जो चरण हैं उन चरणों की भक्ति से भक्त लोग जैसे कर्माशय की गाठ को काट देते हैं वैसे योगी लोग, जिन्होंने इन्द्रियों के वेग को रोक रक्खा है तथा अपने मन को भी विषयों से हटा दिया है वे भी कर्माशय (वासना) के बन्धन को नहीं काट सकते हैं, इससे शरणागत की रक्षा करने वाले उस वासुदेव भगवान् का भजन करो।

यस्य भक्तिर्भगवति हरौ नि श्रेयसेश्वरे ।
विक्रीडतोऽमृताम्भोधौ किं क्षुद्रे खातकोदके ॥

(भाग० ६।१२।२२)

कल्याणदायक भगवान् हरि में जिसकी भक्ति हो चुकी है, जो अमृत के समुद्र में विहार करता है, उसको क्षुद्र गड्ढे के जल से क्या काम है अर्थात् भगवद्भक्त पुरुषों का ऐहिक लौकिक तथा स्वर्ग आदि पारलौकिक विषय भोगों में कभी मन चलायमान नहीं होता है।

यद्वत्समलादर्शे सुचिरं भस्मादिना शुद्धे ।
प्रतिफलतिवक्त्रमुच्चैः शुद्धे चित्ते तथा ज्ञानम् ॥

(प्रबोध सुधाकर १६८)

मलिन आइना को भस्म आदि से चिरकाल तक मलने से उसके स्वच्छ होजाने पर जिस प्रकार उसमें मुख का प्रतिबिम्ब स्पष्ट पड़ने लग जाता है उसी प्रकार भक्ति के द्वारा निर्मल तथा निश्चल चित्त होने पर उसमें स्पष्ट रूप से ज्ञान का आविर्भाव होजाता है। भक्ति का स्वरूप क्या है, भक्ति का साधन क्या है, भक्ति का फल क्या है, भक्ति मार्ग का अधिकारी कौन है, इन सब विषयों का विवेचन करना परमावश्यक है इसलिये प्रथम अब यहां भक्ति का स्वरूप क्या है ? इसीका विवेचन करते हैं।

भक्ति का स्वरूप ।

भक्ति शब्द का अर्थ सेवा होता है। जो अपना सेव्य हो, मन, वाणी और कर्म के द्वारा उसके अनुकूल कार्य सदैव करते रहना सेवा है। जब तक सेवक (भक्त) के अन्तःकरण में प्रेम उत्पन्न नहीं होता तब तक बिना प्रेम के सच्ची सेवा नहीं बन

सकती है। प्रेम ही भक्ति का पूर्व रूप है और वही प्रेम जब सर्व-तो भावेन अत्यन्त अधिक बढ जाता है, अपनी हद तक पहुच जाता है तब उसका रूपान्तर हो जाता है अर्थात् वही परम प्रेम भक्ति (सेवा) के रूप में परिणत हो जाता है। नारद भक्ति सूत्र में कहा है—

सा त्वस्मिन्परम प्रेम रूपा।

(ना० २)

परमेश्वर में परम प्रेम करना ही भक्ति का स्वरूप है। महर्षि शाण्डिल्य के मत से भी यही सिद्ध होता है, जैसा उन्होंने अपने शाण्डिल्य सूत्र में कहा है—

सा परानुरक्तिरीश्वरे।

(शा० २)

ईश्वर में जो परम अनुराग अर्थात् पूर्ण प्रेम किया जाता है उसीको भक्ति कहते हैं। इस प्रकार शास्त्रों पर दृष्टि डालने से यह सिद्ध होता है कि प्रेम ही भक्ति है। प्रेम तीन प्रकार के होवे हैं, १ उत्तम २ मध्यम और ३ कनिष्ठ।

उत्तम प्रेम।

जो प्रेम अपने से उत्कृष्ट (उच्च) व्यक्ति पर उत्पन्न होता है उसे उत्तम प्रेम या उत्कृष्ट विषयक प्रेम कहते हैं, जैसे, अज्ञानी पुरुषों का महात्माओं पर जो प्रेम होता है वह उत्कृष्ट प्रेम है और भगवान् में जो एक भक्त का प्रेम उत्पन्न होता है वह सर्वोत्कृष्ट प्रेम है क्योंकि भगवान् सब से उत्कृष्ट हैं।

मध्यम प्रेम ।

जो प्रेम अपने समान व्यक्तियों पर उत्पन्न होता है वह मध्यम प्रेम या सामान्य प्रेम कहा जाता है; जैसे, दो मित्रों में परस्पर प्रेम होता है, इसे मैत्री भी कहते हैं।

निकृष्ट प्रेम ।

जो प्रेम अपने से निकृष्ट (नीच) श्रेणी के व्यक्तियों पर उत्पन्न होता है उसे निकृष्ट प्रेम कहते हैं; जैसे साधु महात्माओं का अज्ञानी पुरुषों के ऊपर जो प्रेम होता है।

शास्त्रों में भक्ति नवविध बताई गई है; जैसे—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्म निवेदनम् ॥
(भाग० ७।५।२३)

विष्णु भगवान् की कथा का श्रवण करना, उनका कीर्त्तन करना, विष्णु भगवान् का स्मरण करना, उनके चरणों की सेवा करना, उनकी पूजा करना, उनकी वन्दना करना, उनका दास्य-भाव रखना, उनका सख्यभाव (मैत्री) रखना, उनके पास अपनी आत्मा को समर्पण कर देना; यह नव प्रकार की भक्ति नवधा भक्ति के नाम से प्रसिद्ध है।

इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा ।
क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम् ॥
(भाग० ७।५।२४)

इस तरह नव प्रकार की जो भक्ति कही गयी है, जो मनुष्य उस भक्ति को धारण करता है और श्रीकृष्ण भगवान् में उसे अर्पण कर देता है, मेरी समझ में, उसीकी शिक्षा सर्वोत्तम है। नवधा भक्तिमें से प्रत्येक के अलग अलग भक्त प्रसिद्ध है। जैसे—

श्रीकान्त श्रवणे परीक्षित इतो वैयासिक: कीर्त्तने।
प्रह्लादः स्मरणे तदङ्घ्रि भजने लक्ष्मीः पृथु. पूजने॥
अक्रूरस्त्वभिवन्दने कपिवरो दास्येऽथ सख्येऽर्जुन.।
सर्वस्वात्म निवेदने बलिरभूत्कैवल्यमेकैकया॥

परीक्षित श्रवण भक्त, शुकदेवजी कीर्त्तन भक्त, प्रह्लाद स्मरण भक्त, लक्ष्मीजी पाद सेवन भक्त, पृथु महाराज पूजन भक्त, अक्रूरजी वन्दन भक्त, हनुमान दास्य भक्त, अर्जुन सख्य भक्त, बलि आत्म निवेदन भक्त हुए हैं और एक एक भक्ति से भी उन लोगों को मुक्ति लाभ हुआ है।

श्रवण भक्ति।

निशम्य कर्माणि गुणानतुल्यान्वीर्याणि लीलातनुभिः कृतानि।
यदाति हर्षोत्पुलकाश्रुगद्गद प्रोत्कण्ठ उद्गायति रौति नृत्यति॥
(भाग० ७।७।३४।)

भगवान् के मायाशरीरों के द्वारा किये गये कर्मों को, उनके अनुपम गुणों को तथा उनके पराक्रमों को सुनकर अत्यन्त हर्षसे जब रोए खड़े हो जाते हैं और आनन्द के आंसू गिरने लग जाते हैं,

तब गद्‌गद कण्ठ से वह कभी गाने लगता है, कभी रोने लगता है और कभी नाचने लग जाता है।

शृण्वन् सुभद्राणि रथांगपाणेर्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके। गीतानि नामानि तदर्थकानि गायन् विलज्जो विचरेदसंगः॥

(भाग० ११।२।३९)

चक्रपाणि विष्णु भगवान् के मंगलमय जन्म और कर्म जो संसार में प्रसिद्ध हैं उनका श्रवण करता हुआ तथा जो उनके गीत हैं और उनके अर्थ के जो नाम हैं उन्हें गाता हुआ एकाकी होकर वह संसार में घूमता रहे।

कीर्त्तन भक्ति।

भगवान् के गुण और कथा, भजन और नामों का सदैव कीर्त्तन करते रहना कीर्त्तन भक्ति है। जैसे—

एतावतालमघनिर्हरणाय पुंसां संकीर्त्तनं भगवतो गुण कर्म नाम्नाम्। विक्रुश्य पुत्रमघवान्यदजामिलोऽपि नारायणेति म्रियमाण इयाय मुक्तिम्॥

(भाग० ६।३।२४)

भगवान् के गुण, कर्म और नामों का कीर्त्तन करना मनुष्यों के पापों को समूल विनाश करने के लिये काफी है। यह इसीसे सिद्ध होता है कि महा पापी अजामिल ने मरते समय 'नारायण' कहकर अपने पुत्र को बुलाया उसीसे उसे मुक्ति मिल गयी।

तस्मात्सङ्कीर्तनं विष्णोर्जगन्मंगलमंहसाम् ।
महतामपि कौरव्य विद्ध्यैकान्तिकनिष्कृतम् ॥
(भाग० ६।३।३१)

हे परीक्षित ! तुम निश्चय समझो कि भगवान् विष्णु के नामों के कीर्त्तन करने से संसार के महा पातकों का निश्चित रूप से विनाश होजाता है और संसार का कल्याण होता है ।

एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः ।
हसत्यथो रोदिति रौति गायत्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः ॥
(भाग० ११।२।४०)

इस प्रकार प्रेम रूप भक्ति से युक्त होकर अपने प्रिय भगवान् के नामों के कीर्त्तन करने में अनुरागयुक्त तथा हृदय पसीजा हुआ भक्त कभी तो भक्तों से भगवान् के पराजय का ध्यान कर ज़ोर से हसने लगता है, या इतने समय तक भगवान् ने मेरी खबर नहीं ली, यह सोचकर कभी तो रोने लगता है। हे हरे ! मेरे ऊपर दया करो, इस प्रकार कभी उत्कण्ठा से आक्रोश करने लगता है, कभी अत्यन्त हर्षसे गाने लगता है अथवा कभी पागल की भांति विवश होकर नाचने लगता है ।

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥
(भ० गी० ९।१४)

अपने व्रत को दृढ रखने वाले भक्तजन सदैव मेरे नाम और गुणों का कीर्त्तन करते हुए और मुझे पाने के लिये प्रयत्न करते हुए तथा मुझे वार वार प्रणाम करते हुए मुझमें पूर्ण भक्ति रख कर नियम से सर्वदा मेरी उपासना करते हैं।

स्मरण भक्ति।

भगवान् के सगुण अथवा निर्गुण स्वरूप का सर्वदा मन में चिन्तन करते रहना और मन को एकाग्ररूप से भगवान् में ही लगा देना, इसीको स्मरण भक्ति कहते हैं। जैसे—

दिविवा भुविवा ममास्तु वासो नरके वा नरकान्तक प्रकामम्। अवधीरित शारदारविन्दौ चरणौ ते मरणे विचिन्तयामि ॥

हे नरकान्तक! मेरा निवास स्वर्ग में हो या पृथ्वी पर हो अथवा नरक में ही हो किन्तु शरत् काल के कमल के समान जो आपके चरण हैं उनका ध्यान करता रहूं यही एक मात्र याचना है।

अनन्यचेताः सततं यो मा स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥
(भ० गी० ८।१४)

हे पार्थ! अनन्य भक्ति से अर्थात् सर्वदा अन्य विषयों से चित्त को हटाकर एकाग्र रूप से जो मेरा सदैव स्मरण करता रहता है, नियम पूर्वक मुझमें ही लगे हुए ऐसे योगी के लिये मैं सुलभ हूं।

पाद सेवन भक्ति ।

भगवान् के दोनों पैरों को गगा जल आदि पवित्र जलों से धोकर चरणोदक लेना और श्रद्धा भक्ति पूर्वक अत्यन्त प्रेम से भगवान् के पदों का ही सेवन करते रहना, इसी को पाद सेवन भक्ति कहते हैं, जैसे—

नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिन्मत्पादसेवाभिरता मदीहाः । येऽन्योऽन्यतो भागवता' प्रसज्य समाजयन्ते मम पौरुषाणि ॥

(भाग० ३।२५।३४)

मेरे कितने भक्त मुझमें ही अपनी सारी कामनाओं को अर्पण करके, मेरे चरणों की सेवा में ही तत्पर रहकर मेरे एकात्म भाव अर्थात् मुक्ति को भी नहीं चाहते हैं। वे मेरे भक्त एकत्र होकर मेरे चरित्रों का परस्पर कथन करते रहते हैं।

अर्चन भक्ति ।

परम पवित्र जल, चन्दन, अक्षत, नैवेद्य, धूप, दीप आदि सामग्री से, पञ्चोपचार या षोडशोपचार विधान से, श्रद्धा भक्ति पूर्वक शास्त्र के अनुसार भगवान् के पूजन करने को अर्चन भक्ति कहते हैं, जैसे—

एवं क्रियायोगपथैः पुमान्वैदिकतान्त्रिकैः ।
अर्चन्नुभयत. सिद्धिं मत्तो विन्दत्यभीप्सितम् ॥

इस प्रकार वैदिक और तान्त्रिक कर्म काण्डों के द्वारा मेरा पूजन करता हुआ मनुष्य इस लोक में और परलोक में अपने अभिलषित वस्तु को प्राप्त करता है।

शुचिः सम्मुखमासीनः प्राण संयमनादिभिः ।
पिण्डं विशोध्य संन्यासकृतरक्षोऽर्चयेद्धरिम् ॥
(भाग० ११।३।४९)

स्नान आदि करके पवित्र होकर प्रतिमा के सन्मुख बैठकर प्राणायाम आदि से शरीर को शुद्ध करके भूत शुद्धि आदि के द्वारा न्यास और रक्षा बन्धन करके भगवान् का पूजन करना चाहिये।

अर्चादौ हृदये चापि यथा लब्धोपचारकैः ।
द्रव्यक्षित्यात्मलिंगानि निष्पाद्य प्रोक्ष्य चासनम् ॥
(भाग० ११।३।५०)

जो पूजा की सामग्री प्राप्त हो उससे प्रतिमा आदि में या अपने हृदय में ही पुष्परूप द्रव्य का पृथ्वी का, अपनी आत्मा का और मूर्त्ति का शोधन कर और आसन को सिक्त (सिंचन) करके पूजन करे।

पाद्यादीनुपकल्प्याथ संनिधाप्य समाहितः ।
हृदादिभिः कृतन्यासो मूलमन्त्रेण चार्चयेत् ॥
(भाग० ११।३।५१)

पाद्य, अर्घ्य आदि का संगठन करके उन्हें यथा स्थान रख कर एकाग्र भाव से हृदय आदि का षडङ्गन्यास करके मूल मन्त्र से भगवान् का पूजन करना चाहिये।

साङ्गोपाङ्गा सपार्षदा तां तां मूर्तिं स्वमन्त्रतः ।
पाद्यार्घ्याचमनीयाद्यैः स्नानवासोविभूषणैः ॥
(भाग० ११।३।५०)

पाद्य अर्घ्य, आचमनीय, स्नान, वस्त्र, भूषण आदि से शास्त्रोक्त मन्त्र द्वारा पार्षदगण सहित साङ्गोपाङ्ग भगवान्‌की मूर्त्ति का पूजन करे।

गन्धमाल्याक्षतस्रग्भिर्धूपदीपोपहारकैः ।
साङ्गं सम्पूज्य विधिवत्स्तवैः स्तुत्वा नमेद्धरिम् ॥
(भाग० ११।३।५३)

चन्दन, पुष्प, अक्षत, माला, धूप, दीप, नैवेद्य आदि से यथा विधि अंग सहित भगवान् का पूजन कर स्तोत्रों से स्तुति करके प्रणाम करे।

आत्मानं तन्मयं ध्यायन् मूर्त्तिं सम्पूजयेद्धरेः ।
शेषामाधाय शिरसा स्वधाम्न्युद्वास्य सत्कृतम् ॥
(भाग० ११।३।५४)

अपने आपको तन्मय चिन्तन करता हुआ भगवान् की मूर्त्ति का पूजन करे। पूजन करने के बाद निर्माल्य को मस्तक से लगाकर सत्कार पूर्वक मूर्त्ति को अपने स्थान में रख दे।

एवमग्न्यर्कतोयादावतिथौ हृदये च यः ।
यजतीश्वरमात्मानमचिरान्मुच्यते हि सः ॥
(भाग० ११।३।५५)

जो कोई इस प्रकार अग्नि में, सूर्य में, जल में, अतिथि में और भी शास्त्रोक्त अन्य प्रकार की प्रतिमा में अथवा अपने हृदय में ही अपनी आत्मा रूप ईश्वर का पूजन करता है वह शीघ्र ही मुक्त होजाता है।

वन्दन भक्ति।

श्रद्धा और प्रेम पूर्वक भगवान् के चरणों में साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम करना और भगवान् के शरणागत होकर भगवान् की सदैव स्तुति करते रहना, बारम्बार उन्हें नमस्कार करना इसीको वन्दन भक्ति कहते हैं; जैसे—

एकोऽपि कृष्णस्य कृतप्रणामो दशाश्वमेधावभृथैर्न तुल्यः।
दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय॥

श्रीकृष्ण भगवान् के चरणों में एक बार किया गया प्रणाम भी अनेकों दशाश्वमेध यज्ञों से भी बढ़कर होता है, क्योंकि दशाश्वमेध यज्ञ करने वाले मनुष्य को पुनः जन्म धारण करना पड़ता है और श्रीकृष्ण भगवान के चरणों में प्रणाम करने वाले को पुनः जन्म धारण नहीं करना पड़ता।

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत्किंच भूतं प्रणमेदनन्यः॥
(भाग० ११।२।४१)

आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र आदि ज्योति, समस्त प्राणी, दिशाएँ, वृक्ष आदि सरोवर, समुद्र तथा और भी जो

शुद्ध विराट् भगवान् के शरीर हैं उन्हें अनन्य भक्त होकर प्रणाम करे।

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशांकः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते॥
(भ० गी० ११।३९)

हे भगवन्! आप वायु, यमराज, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, प्रजापति और ब्रह्मा हैं, आपको हजारों बार नमस्कार है, फिर भी बार २ नमस्कार है।

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनंतवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोपि ततोऽसि सर्वः॥
(भ० गी० ११।४०)

हे सकल चराचरात्मक भगवन्! आपको आगे से, पीछे से और सब तरफ से नमस्कार है। आप अनन्त सामर्थ्य और अनुपम पराक्रम से युक्त हैं। आप सारे संसार को अपने अन्दर लिये हुए हैं, अतएव आप सर्व रूप हैं।

दास्य भक्ति।

दास्य भाव से श्रद्धा और प्रेम पूर्वक भगवान् की जो भक्ति करना है, उसे दास्य भक्ति कहते हैं; जैसे—

त्वयोपभुक्तस्रग्गन्ध वासोलंकार चर्चिताः।
उच्छिष्ट भोजिनो दासास्तव मायां जयेमहि॥

हे भगवन्! आपके उपभुक्त माला, चन्दन, वस्त्र, भूषण आदि को प्रसाद के रूप में धारण करतेहुए और आपके उच्छिष्ट भोजन करने वाले आपके दास होकर हम आपकी माया को जीत लेते हैं।

सख्य भक्ति।

मित्र भाव से भगवान् की जो भक्ति की जाती है, उसे सख्य भक्ति कहते हैं।

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात् प्रणयेन वापि॥
(भ० गी० ११।४१)

हे भगवन्! आप मेरे सखा हैं यह समझकर आपको मैंने अपनी बड़ाई के लिये, हे कृष्ण, हे यादव, हे सखा, कहकर जो पुकारा है सो आपकी महिमा को नहीं जानते हुए गलती से अथवा प्रेम से पुकारा है।

तस्यैव मे सौहृद सख्य मैत्री दास्यं पुनर्जन्मनि जन्मनि स्यात्।
महानुभावेन गुणालयेन विपज्जतस्तत्पुरुष प्रसंगः॥
(भाग० उत्तरार्ध १०।८१।३६)

उसी भक्तवत्सल भगवान् के साथ मेरा प्रेम हो और सख्य अर्थात् उनका हित कहता रहूँ, मैत्री अर्थात् उनका ही उपकार करूँ, दास्य अर्थात् उनका सेवक रहूँ यही प्रत्येक जन्म में मुझे मिले, मैं और ऐश्वर्य नहीं चाहता। गुणों के भण्डार उस भगवान् के संग करने से अनायास ही भगवान् के सारे भक्तों का विशेषरूप से संग होजाता है।

आत्म निवेदन भक्ति ।

श्रद्धा और प्रेम पूर्वक अपने सारे कर्मों के साथ अपने आप को भगवान् के चरण कमलों में समर्पण कर देना इसीको आत्म निवेदन भक्ति कहते हैं, जैसे—

कृत्स्ना तेऽनेन दत्ता भूर्लोका कर्मार्जिताश्च ये ।
निवेदितं च सर्वस्वमात्माऽविक्लवया धिया ॥
(भाग० ८।२२।२२)

हे भगवन् ! बलि ने उदारता के साथ आपको अपनी सब पृथ्वी दे दी। सुकृत्य के द्वारा जिन सब उत्तम लोक को इसने प्राप्त किया था, उनको भी आपके चरणों में अर्पण कर दिया इसके सिवाय अपनी आत्मा और सर्वस्व भी इसने प्रसन्न चित्त से आपकी भेंट कर दी। यह नवधा भक्ति भी पांच प्रकार की होती है। जैसे—१ निष्काम भक्ति, २ मोक्षकाम भक्ति, ३ भगवत्सान्निध्य काम भक्ति ४ स्वर्गादि काम भक्ति, ५ ऐहिक लौकिक काम भक्ति।

सनकादि और नारद मुनि, प्रह्लाद, पृथु तथा शुकदेवजी इन लोगों ने भगवान् की निष्काम भक्ति की है। मुचुकुन्द, मैथिल जनक, श्रुतदेव और उद्धव इन लोगों ने भगवान् की मोक्षकाम भक्ति की है क्योंकि इन्होंने मोक्षप्राप्त होने के लिये भक्ति की है। सुदामा आदि पार्षदगण और अम्बरीष आदि राजाओं ने भगवत्सान्निध्य प्राप्त करने के लिये भगवान् की भक्ति की है। ध्रुव

आदि ने स्वर्गादि उत्तम लोक प्राप्त करने के लिये भगवान् की भक्ति की है। सुग्रीव, विभीषण और उपमन्यु आदि व्यक्तियों ने ऐहिक लौकिक कामना के लिये भगवान् की भक्ति की है।

भक्ति के भेद निरूपण में गीता के सातवें अध्याय सोलहवें श्लोक की मधुसूदनी व्याख्या में इसी प्रकार का भाव दिखाया गया है। उन भक्तियोंमें निष्काम भक्ति सर्वश्रेष्ट भक्ति है। कामना नहीं रहने के कारण उस भक्ति में प्रेमका आधिक्य रहता है तथा एक भगवान् में ही अनुराग रहता है क्योंकि उसमें विक्षेप करने वाली कोई चीज उसकी दृष्टि पथ में नहीं आती।

शका—विना प्रयोजन के मूर्ख भी किसी वस्तु में प्रेम नहीं करता, वह प्रयोजन चाहे लौकिक हो, पारलौकिक हो, पारमार्थिक हो या लोकसंग्रह ही हो। अत ज्ञानी की भी निष्काम भक्ति नहीं हो सकती है क्योंकि उसको भी पारमार्थिक या लोक शिक्षण का कुछ न कुछ प्रयोजन अवश्य रहता है।

समाधान—ज्ञानी भक्त पूर्ण निष्काम हैं, उन्हें कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता है। ज्ञानी पुरुष अपनी आत्मा को और ईश्वर को अभेद रूप से समझता है। आत्मा का और ईश्वर का जो वास्तव अभेद है, उसका ज्ञानी को साक्षात्कार हो चुका है, इसलिये ईश्वर में ज्ञानी का प्रेम रहता है, क्योंकि अपनी आत्मा सबको प्रिय है यह बात लोगों में प्रसिद्ध है। ज्ञानी पुरुष भगवान् का अपनी आत्मा समझते हैं इसलिये आत्मा रूप सम-

करने के कारण भगवान् में उनका प्रेम है और प्रेम होने से भगवान् में उनकी प्रेम स्वरूप भक्ति होती है और वह भक्ति सर्व श्रेष्ठ कही गयी है, जैसे—

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥
(भ० गी० ७।१७)

पूर्व श्लोक में चार प्रकार के आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी इन सज्ञाओं के द्वारा जो भक्त कहे गये हैं, उन भक्तों में ज्ञानी भक्त अर्थात् जिसने सारी कामनाओं का त्याग कर दिया है, ऐसा तत्त्व ज्ञानवान् भक्त श्रेष्ठ है, क्योंकि आत्म स्वरूप जो भगवान् हैं उनमें सदैव एकाग्र रूप से उनका चित्त लगा रहता है। उनके चित्त को विक्षेप करने की द्वैत रूप सामग्री उनके लिये नहीं रहती है, इसीलिये एक ही भगवान् में उनका अनुराग (प्रेम) रहता है। उनकी दृष्टि पथ में विषयान्तर रहता ही नहीं, इसलिये ज्ञानी को मैं आत्मा रूप भगवान् बहुत प्यारा लगता हूँ, अतः मुझ भगवान् को भी ज्ञानी बहुत प्यारे लगते हैं, यह लोक और वेद दोनों मे प्रसिद्ध बात है। इस श्लोक का भगवान् शंकराचार्य ने इस प्रकार अर्थ किया है—

प्रसिद्ध हि लोके आत्मा प्रियो भवतीति तस्मात् ज्ञानिन आत्मत्वात् वासुदेवः प्रियो भवतीत्यर्थ. स च ज्ञानी मम वासुदेवस्य आत्मा एव इति मम अत्यर्थं प्रियः ।
(शांकर भाष्य)

यह बात लोक मे प्रसिद्ध है कि अपनी आत्मा सबको प्रिय है, ज्ञानी की दृष्टि में भगवान् भी आत्मा रूप ही हैं, इसीलिये भगवान् भी अपनी आत्मा की तरह ज्ञानी को प्रिय लगते हैं, अतएव वह ज्ञानी भी मुझ भगवान् की आत्मा रूप ही हैं, इस लिये मुझ भगवान् को भी अत्यन्त प्रिय हैं।

उदारा· सर्वे एवैते ज्ञानीत्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थित स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमा गतिम्॥
(भ० गी० ७।१८)

यद्यपि पूर्वोक्त जो आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी सकाम भक्त हैं वे भी श्रेष्ठ ही हैं, क्योंकि पूर्व जन्मार्जित अनेकानेक पुण्यों के फल स्वरूप वे मेरा भजन करते हैं। तथापि उन भक्तों मे जो ज्ञानी भक्त अर्थात् निष्काम भक्त हैं, वे मुझ भगवान् की आत्मा रूप ही हैं यह मेरा निश्चय है। वह एकाग्र चित्त वाला ज्ञानी मुझ भगवान को प्राप्त हुआ मेरी सर्वोत्तम गति अर्थात् मोक्ष का प्राप्त करता है। इस प्रकार गवेषणा करने से यह सिद्ध है कि ज्ञानी या भग वान् मे अथवा जगत् में किसी में भी जो प्रेम होता है वह बिना प्रयोजन के ही होता है क्योंकि किसी भी प्राणी का अपने आप में जो प्रेम होता है वह बिना किसी प्रयोजन से ही होता है किंतु अपने से भिन्न प्राणियों में ईश्वर में अथवा जगत् के किसी पदार्थ मे जो प्रेम होता है वह प्रेम प्रयोजन लेकर ही होता है, बिना प्रयोजन के नहीं होता। ज्ञानी की दृष्टि में सारा जगत तथा ईश्वर सब कुछ अपने ही रूप होजाते हैं, सत् चित् आनन्द

रूप के सिवाय दूसरा कुछ भी परमार्थ में (वास्तव में) नहीं है ऐसा ज्ञानी को दृढ निश्चय रहता है। अतएव ईश्वर में अथवा जगत् के किसी पदार्थ में जहा कहीं भी ज्ञानी का प्रेम होता है वह अपने आप में ही होता है इसी कारण से ज्ञानी का सर्वत्र प्रेम विना प्रयोजन के ही होता है, क्योंकि अपने आप में जो प्रेम होता है वह विना प्रयोजन के ही होता है यह प्रसिद्ध है अतएव ज्ञानी भक्त सर्व श्रेष्ठ भक्त है। ज्ञानी के लिये भागवत में कहा गया है। जैसे—

यो विद्याश्रुत सम्पन्न आत्मवान्नानुमानिक ।
मायामात्रमिद ज्ञात्वा ज्ञान च मयि सन्यसेत ॥
(भाग० ११।१९।१)

जो व्यक्ति अध्यात्म विद्या के श्रवण से सम्पन्न है, और जिसे अनुमान कृत केवल परोक्ष ज्ञान ही नहीं किन्तु साक्षात्कार रूप अपरोक्ष आत्म-ज्ञान भी होचुका है, वह ज्ञानी इस सारे ब्रह्माण्ड को मायामात्र अर्थात् मिथ्या समझकर उस आत्मज्ञान को भी मुझ भगवान् में ही समर्पण करे।

ज्ञानिनस्त्वहमेवेष्ट स्वार्थो हेतुश्च सम्मत ।
स्वर्गश्चैवापवर्गश्च नान्योऽर्थो मदृते प्रिय ॥
(भाग० ११।१९।२)

मैं भगवान् ही ज्ञानी का अभिलषित स्वार्थ हूँ और उस स्वार्थ का ठीक साधन भी मैं ही हूँ तथा स्वर्ग और मोक्ष भी

ज्ञानी का मैं ही हूँ, मेरे सिवाय ज्ञानी को दूसरा कुछ भी प्रिय नहा है।

ज्ञान विज्ञान संसिद्धाः पदं श्रेष्ठ विदुर्मम।
ज्ञानी प्रियतमोऽतो मे ज्ञानेनासौ विभर्त्ति माम् ॥
(भाग० ११।१९।३)

ज्ञान अर्थात् परोक्षात्मक शास्त्रज्ञान और विज्ञान अर्थात् अपरोक्षात्मक अनुभवरूप ज्ञान, इन दोनों से जो भली भाति आत्मतत्त्व की प्राप्तिरूप सिद्धि को प्राप्त कर चुके हैं, ऐसे ज्ञानी लोग मेरे श्रेष्ठ पद को जानते हैं इसलिये ज्ञानी मुझ भगवान् को अत्यन्त प्रिय है और वे मुझे ज्ञान के द्वारा अपने हृदय में धारण करते हैं। नारद भक्ति सूत्र में लिखा है—

अन्याश्रयाणां त्यागोऽनन्यता ॥१०॥

एक आश्रय के सिवाय दूसरे आश्रयों का त्याग कर देना इसीको अनन्यता, अनन्य भक्ति या एक भक्ति कहते हैं। इस प्रकार के शास्त्रों के विचार से साबित होता है कि ज्ञानी भक्त पूर्ण निष्काम है। किसी प्रकार के प्रयोजन के विना ही ईश्वर में ज्ञानी का प्रेम रहता है और उसी प्रेम को निष्काम भक्ति कहते हैं। ज्ञानी भक्त लोकशिक्षण के लिये श्रवण आदि नवधा भक्ति भी कर सकते हैं, किन्तु वह लोकशिक्षणरूप प्रयोजन उनके लिये बन्धनकारक नहीं होता क्योंकि उसमें उनकी आसक्ति कुछ भी नहीं रहती है। यद्यपि ज्ञानीभक्त पूर्ण निष्काम

है तथापि व्यवहार दशा में प्रारब्ध के प्रभाव से ज्ञानी को जब तक शरीर धारण करना पड़ता है तब तक अनुकूल पदार्थ में उनकी प्रवृत्ति और प्रतिकूल पदार्थ में निवृत्ति रहती ही है। किन्तु इस प्रवृत्ति और निवृत्ति से वास्तव में उन्हें कुछ विक्षेप नहीं होता है क्योंकि प्रवृत्ति निवृत्ति सारी क्रियायें मिथ्या हैं ऐसा ज्ञानी को दृढ़ निश्चय सदैव रहता है और सत् चित् आनन्द रूप सारी उपाधियों से रहित एक अद्वितीय ब्रह्म में ही हूं ऐसा भी दृढ़ निश्चय रहता है।

यहां यह रहस्य है कि प्राणियों के अन्तःकरण में सत्त्व, रज, तम इन तीन प्रकार के गुणों का न्यूनाधिक्य रहने से ईश्वर विषयक जो प्रेम (भक्ति) उत्पन्न होता है वह भी नाना (अनेकानेक) प्रकार का होता है। जिस पुरुष के अन्तःकरण में अधिकाधिक रूप में सत्त्वगुण रहता है, रजोगुण और तमोगुण अत्यन्त न्यून (अत्यल्प) रहता है उस पुरुष के अन्तःकरण में पूर्ण निष्काम रूप से अनन्य भाव से भगवान् की भक्ति उत्पन्न होती है, उस भक्ति को ही 'अव्यभिचारिणी भक्ति' अथवा 'एक भक्ति' या सात्त्विकी भक्ति कहते हैं।

सात्त्विकी वृत्ति।

यदा चित्त प्रसीदेत इन्द्रियाणां च निर्वृतिः।
देहेऽभयं मनोऽसङ्गं तत्सत्त्वं विद्धि मत्पदम्॥

(भाग० ११।२५।१६)

जब चित्त प्रसन्न रहने लगे, इन्द्रियों को शांति मिलती रहे, देह में किसी प्रकारका भय न हो, मनमें किसी की आसक्ति न हो तब सत्त्वगुण समझना चाहिये, जो सत्त्वगुण मेरा स्थान है अर्थात् उसीसे मैं प्राप्त होता हूँ।

सर्व द्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्यात् विवृद्धं सत्त्वमित्युत॥
(भ० गी० १४।११)

इस देह के सब द्वारों में अर्थात् अन्तःकरण तथा इन्द्रियों में सर्वत्र जब प्रकाश उत्पन्न होजाता है और आत्मज्ञान उत्पन्न होता है तब सत्त्वगुण बढ़ा हुआ है यह समझना चाहिये। सत्त्वगुण वाले पुरुष की सात्त्विकी वृत्ति होती है जिसे दैवी सम्पत्ति भी कहते हैं।

शमो दमस्तितिक्षेक्षा तपः सत्यं दया स्मृतिः।
तुष्टिस्त्यागोऽस्पृहा श्रद्धा ह्रीर्दयादिः स्वनिर्वृतिः॥
(भाग० ११।२५।२)

शम अर्थात् मन को एकाग्र करना, दम अर्थात् इन्द्रियों के वेग को रोकना, सहनशीलता, ईक्षा अर्थात् विवेक, तप अर्थात् स्वधर्म में रहना, स्मृति अर्थात् पूर्वापरका अनुसन्धान करना, यथालाभ से ही सन्तोष करना, दया, सत्य, त्याग अर्थात् उदारता, अस्पृहा अर्थात् विषयों में वैराग्य, श्रद्धा अर्थात् आस्तिकता, अनुचित कर्म करने में लज्जा, दान आदि पद से सरलता नम्रता आदि भी लिये जाते हैं। उपर्युक्त सात्त्विकी वृत्ति या दैवी सम्पत

के सेवन करने से ससार रूप अत्यन्त दु खमय वन्धन से सदैव के लिये मुक्ति मिल जाती है, जैसे कहा है—"दैवी सम्पत् विमोक्षाय" अर्थात् दैवी सम्पत् मोक्ष के लिये होती है। जिस पुरुष के अन्त करण में सत्त्वगुण और तमोगुण न्यून (अत्यल्प) रहते हैं तथा रजोगुण बहुत अधिक रहता है उस पुरुष का स्त्री, पुत्र, धन आदि ऐहिक लौकिक तथा स्वर्ग आदि पारलौकिक सुख की प्राप्ति के लिये ईश्वर में जो प्रेम (भक्ति) उत्पन्न होता है उसे राजसी भक्ति कहते हैं।

राजसी वृत्ति।

काम ईहा मदस्तृष्णा स्तम्भ आशीर्भिदासुखम्।
मदोत्साहो यश प्रीतिर्हास्य वीर्यं बलोद्यम ॥
(भाग० ११।२५।३)

कामना, किसी प्रकार का व्यापार, दर्प, तृष्णा, गर्व, आशी अर्थात् धन आदि की अभिलाषा से देवता आदि की प्रार्थना करना, भेद बुद्धि, विषय भोग, दर्प से युद्धादि में प्रवृत्ति, यशोलोलुपता, उपहास, अपना प्रभाव कथन तथा बल से उद्यम, यह वृत्ति राजसी वृत्ति कही जाती है।

विकुर्वन्क्रियया चाधीरनिर्वृत्तिश्च चेतसाम्।
गात्रास्वास्थ्य मनो भ्रान्त रजएतैर्निशामय ॥
(भाग० ११।२५।१७)

जब क्रियाओं के द्वारा विकार को प्राप्त पुरुषका चित्त चञ्चल हो, बुद्धि और इन्द्रियों को सन्तोष न हो, शरीर अस्वस्थ रहे, मन भ्रान्त हो तब रजोगुण बढ़ा हुआ है ऐसा समझना चाहिये।

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ॥
(भ० गी० १४।१२)

हे अर्जुन! रजोगुण के बढ़ने पर लोभ, सांसारिक विक्षेप कारक कार्यों में प्रवृत्ति तथा उन कार्यों का आरम्भ, अशान्ति, भोग लालसा ये सब उत्पन्न होते हैं। जिस पुरुष के अन्तःकरण में सत्त्व और रज ये दोनों गुण न्यून (अत्यन्त अल्प) रहते हैं और तमोगुण बढ़ा हुआ रहता है उस पुरुष के हृदय में शास्त्र निषिद्ध पदार्थों के भोगने के लिये जो भगवान् की भक्ति उत्पन्न होती है उसे तामसी भक्ति कहते हैं।

तामसी वृत्ति।

क्रोधो लोभोऽनृतं हिंसायाच्ञा दम्भः क्लमः कलिः।
शोकमोहौ विषादार्त्ती निद्राशा भीरनुद्यम॥
(भाग० ११।२५।४)

क्रोध, लोभ, असत्य, हिंसा, याचना, दम्भ, थकावट, कलह, शोक, मोह, विषाद, निद्रा, आशा, भय और जड़ता यह तामसी वृत्ति है। इसे आसुरी सम्पत् भी कहते हैं। तामसी वृत्ति या आसुरी सम्पत् के सेवन करने से दुःखमय बन्धन होता रहता है। जैसे—

" निबन्धायासुरी मता " अर्थात् आसुरी सम्पत् बन्धन के लिये होती है।

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥

(भ० गी० १४।१३)

हे अर्जुन ! तमोगुण के बढ़ने पर अन्तःकरण तथा इन्द्रियों में अप्रकाश, कर्त्तव्य कर्मों में अप्रवृत्ति, असावधानी, मोह ये सब उत्पन्न होते हैं।

मुख्य रूप से श्रीभगवान् के तीन प्रकार के भक्त हैं। १—उत्तम भक्त। २—मध्यम भक्त। ३—प्राकृत भक्त।

उत्तम भक्त।

गृहीत्वापीन्द्रियैरर्थान्यो न द्वेष्टि न न हृष्यति।
विष्णोर्मायामिदं पश्यन् स वै भागवतोत्तमः ॥

(भाग० ११।२।४८)

जो भक्त भगवान् में तन्मय होकर इन्द्रियों से सांसारिक विषयों का ग्रहण करके भी न तो किसी से द्वेष करता है और न किसी से प्रसन्न होता है, इस संसार को माया मात्र अर्थात् असत्य समझता है वही उत्तम भक्त है।

न कामकर्मबीजानां यस्य चेतसि सम्भवः।
वासुदेवैकनिलयः स वै भागवतोत्तमः ॥

(भाग० ११।२।५०)

जिसके अन्तःकरण मे कामना कर्म और वासना इनको स्थान नहीं है और एक मात्र जिसे भगवान् का ही आश्रय है वह उत्तम भक्त है।

न यस्य जन्मकर्मभ्या न वर्णाश्रम जातिभि॰ ।
सज्जतेऽस्मिन्नहभावो देहे वै स हरेः प्रिय ॥
(भाग॰ ११।२।५१)

जिस पुरुष के शरीर मे अपने जन्म अर्थात् कुलका, कर्म अर्थात् तपस्या आदि का, वर्ण का, आश्रम का अनुलोमज प्रतिलोमज आदि जाति का अहकार नहीं है वह उत्तम भक्त है।

सर्वभूतेषु य पश्येद्भगवद्भावमात्मन॰ ।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ॥
(भाग॰ ११।२।४५)

आत्मा रूप भगवान् के समस्त प्राणियों में जो भगवद्भाव देखता है, किसी मे न्यूनाधिक्य नहीं देखता और आत्म रूप भगवान् में भी समस्त प्राणियों को देखता है वह सर्वोत्तम भक्त है।

मध्यम भक्त ।

ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च ।
प्रेममैत्रीकृपोपेक्षा य॰ करोति स मध्यम॰ ॥
(भाग॰ ११।२।४६)

जो पुरुष ईश्वर में प्रेम करता है, भगवद्भक्त जनों में मैत्री करता है, मूर्खों के ऊपर कृपा करता है और शत्रुओं के ऊपर उपेक्षा भाव रखता है वह मध्यम भक्त है।

प्राकृत भक्त।

अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते।
न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः॥
(भाग० ११।२।४७)

जो पुरुष भगवान् को प्रसन्न करने के लिये भगवान् की प्रतिमा की ही श्रद्धा से पूजा करता है और भगवद्भक्त जनों की या दूसरों की पूजा नहीं करता है वह प्राकृत भक्त है। फिर भी भक्तों के अभ्यास की तीन कोटियां होती हैं। श्रीमधुसूदन सरस्वती ने गीता के "सर्व धर्मान्परित्यज्य" इस श्लोक की व्याख्या में कहा है:—

तस्यैवाहं ममैवासौ स एवाहमितित्रिधा।
भगवच्छरणत्वं स्यात्साधनाभ्यासपाकतः॥

भक्त को साधनों के अभ्यास के परिपाक से तीन प्रकार की भगवच्छरणता प्राप्त होती है। जैसे—

१—प्रथम अभ्यास कोटि (श्रेणी) यह होती है कि "उसी परमेश्वर का मैं हूं," इस भक्त को 'मृदु भगवच्छरण' कहते हैं।

२—जब प्रथम अभ्यास कोटि का धीरे धीरे परिपाक होजाता है तब भक्त के हृदय में यह भावना उत्पन्न होजाती है कि 'मेरा

ही परमेश्वर है' ऐसी भावना से युक्त भक्त को 'मध्यम भगवच्छरण भक्त' कहते हैं।

३—जब द्वितीय अभ्यास कोटि का भी परिपाक होजाता है तब 'वह परमेश्वर मैं ही हूँ' इस प्रकार अनन्य भाव उत्पन्न हो जाता है; ऐसी भावना से युक्त भक्तको 'अवधिमात्र भगवच्छरण भक्त' कहते हैं। उपर्युक्त तीन प्रकारकी श्रेणी साधनोंके अभ्यास के तारतम्य (न्यूनाधिक्य) से कही गयी है।

मृदु भगवत् शरण भक्त।

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरंगः क्वचन समुद्रो न तारंगः॥

हे नाथ ! यद्यपि मुझमें और आप में भेद नहीं है अर्थात जो आप हैं वही मैं हूँ तो भी 'आपका मैं हूँ' किन्तु 'आप मेरे नहीं हैं' क्योंकि समुद्र की तरंग कही जाती है किन्तु तरंग का समुद्र नहीं कहा जाता है। वास्तव में समुद्र और तरंग का कुछ भी भेद नहीं है, तरंग (लहर) समुद्र से भिन्न नहीं है, तथापि व्यवहार वैसा ही होता है।

मध्यम भगवत् शरण भक्त।

हस्तमुत्क्षिप्य यातोऽसि बलात् कृष्ण किमद्भुतम्।
हृदयाद्यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते॥

हे कृष्ण ! बलपूर्वक मेरे हाथ को छुड़ाकर चले जाते हो इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है, किन्तु मेरे हृदयसे यदि चले जाओ तो तुम्हारा पौरुष (पुरुषार्थ) मानूं।

अवधिमात्र भगवत् शरण भक्त ।

सकलमिदमहं च वासुदेव परमपुमान्य परमेश्वर स एक ।
इतिमातिरचला भवत्यनन्ते हृदयगते व्रज तान् विहाय दूरात् ॥

अपने दूत से यमराज का कथन है—हे दूत ! जिस पुरुष की अपने हृदयस्थ परमेश्वर के विषय में ऐसी बुद्धि स्थिर हो गयी है कि 'यह चराचर जगत् तथा जीवात्मा स्वरूप जो मैं हूँ यह सब कुछ परम पुरुष परमेश्वर ही हैं, (परमेश्वर से भिन्न कुछ नहीं है) और वह परमेश्वर एक ही है,' ऐसे विचार करन वाले मनुष्य को दूर ही से छोडकर तुम चले जाओ ।

पूर्व मे जो पाच प्रकार की भक्ति कही गई है उनमें प्रत्येक भक्ति का प्रमाण और दृष्टान्त देकर अब विशदरूप से विवेचन करते हैं।

निष्काम भक्ति (प्रेम)।

इसमें यह रहस्य है कि पूर्ण निष्काम भक्ति तब उत्पन्न होती है जब प्रथम अनन्य भक्ति उत्पन्न हो और वही अनन्य भक्ति पूर्ण निष्काम भक्ति में परिणत होजाती है अर्थात अनन्य भाव होने से निष्काम भाव अपने आप सिद्ध होजाता है । वह अनन्य भक्ति भी दो प्रकार की होती है, १ ज्ञान प्रधान अनन्य भक्ति और २ प्रेम प्रधान अनन्य भक्ति ।

ज्ञान प्रधान अनन्य भक्ति।

अपने वास्तव स्वरूप से ईश्वर के वास्तव स्वरूप का अभेद (एक रूपता) है, ऐसा दृढ़ निश्चय रखते हुए ईश्वर में जो प्रेम करना है उसे ज्ञानप्रधान अनन्य भक्ति कहते हैं। इस समस्त चराचर जगत् का और अपना वास्तव स्वरूप सच्चिदानन्द रूप ही है और वही सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा का है ऐसे अभेद का अर्थात् अनन्य भाव का जब दृढ निश्चय होजाता है तब उस पुरुष की दृष्टि अद्वैत रूप सम भाव में निश्चित रूप से लग जाती है अर्थात् सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म के सिवाय किसी वस्तु को पारमार्थिक दृष्टि से नहीं देखता। जब अपने सच्चिदानन्द स्वरूप से भिन्न वास्तव में कोई पदार्थ ही कहीं नहीं रहता तो फिर वह किसकी कामना करे? अतः अनन्य भक्ति होने से यह कामना शून्य अर्थात ज्ञानप्रधान निष्काम भक्ति होती है। जैसे, श्रीमद्भागवत में कहा है—

ततो हरौ भगवति भक्तिं कुरुत दानवाः।
आत्मौपम्येन सर्वत्र सर्वभूतात्मनीश्वरे॥
(भाग० ७।७।५३)

हे दानवगण! इसलिये सब प्राणियों को अपने समान जान कर सब प्राणियों के आत्मारूप भगवान् विष्णु की भक्ति करो।

एतावानेव लोकेऽस्मिन्पुंसः स्वार्थपरः स्मृतः।
एकान्तभक्तिर्गोविन्दे यत्सर्वत्र परीक्षणम्॥
(भाग० ७।७।५५)

नियम से गोविन्द भगवान् की भक्ति तथा उनको सर्वत्र देखना ही इस लोक में पुरुषों का परम स्वार्थ कहा गया है।

हरिः सर्वेषु भूतेषु भगवानास्त ईश्वरः ।
इति भूतानि मनसा कामैस्तैः साधु मानयेत् ॥
(भाग० ७।७।३२)

विष्णु भगवान् ईश्वर रूप से सब प्राणियों में विद्यमान हैं, यह जानकर सब प्राणियों को आदर से देखना चाहिये।

"आत्मैकपरां बादरायणः ॥"
(शाण्डिल्य सूत्र ३०)

महर्षि व्यासजी के मत में आत्मा के वास्तव स्वरूपका ज्ञान होना परा भक्ति है।

"सैकान्तभावो गीतार्थ प्रत्यभिज्ञानात् ॥"
(शाण्डिल्य सूत्र ८३)

उस परा भक्ति को एकान्त भाव अर्थात् निश्चय करके एक का ही चिन्तन करना कहते हैं; क्योंकि गीता आदि में ऐसे ही वचन पाये जाते हैं।

"परां कृत्वैव सर्वेषां तथाह्याह ॥"
(शाण्डिल्य सूत्र ८४)

सब उपदेश और कर्मों का तात्पर्य परा भक्ति करके ही होता है, ऐसा श्रीकृष्ण भगवान् ने गीता में कहा है; जैसे—'भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयम्।' अर्थात् मुझमें पराभक्ति करके निःसन्देह मुझको प्राप्त हो जायगा।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥
(भ० गी० १८।५४)

सच्चिदानन्द घन ब्रह्म में एकी भाव से स्थित और प्रसन्न चित्त पुरुष न तो किसी वस्तु के लिये शोक करते हैं और न किसी की आकांक्षा ही करते हैं समस्त प्राणियों में सम दृष्टि रखते हुए मेरी पराभक्ति को प्राप्त करते हैं अर्थात् श्रवण मनन से युक्त योगी ज्ञानत्वलक्षणा निष्काम भक्ति को प्राप्त करते हैं।

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वत ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥
(भ० गी० १८।५५)

उस भक्ति के द्वारा मेरे यथार्थ स्वरूप को भली भांति जानते हैं और मुझे यथावत् जानकर उसके बाद ही अनन्य भाव से मुझ भगवान् में प्रविष्ट हो जाते हैं अर्थात् निदिध्यासन रूप ज्ञान लक्षणा परा भक्ति को प्राप्त करने के बाद ही सत् चित् आनन्द रूप अखण्ड एक रस समस्त उपाधि रहित ब्रह्म का साक्षात्कार करते हैं।

प्रेम प्रधान अनन्य भक्ति।

अपने को भगवान् का दास अथवा सखा आदि मानकर भगवान् की ही प्रसन्नता के लिये भगवान् के बतलाये हुए उपदेश के अनुसार अन्य समस्त कर्मों से प्रेम हटाकर केवल भगवान् में ही दिन रात अत्यन्त प्रेम से अपने मन को लगा देना, इसीको

प्रेम प्रधान अनन्य भक्ति कहते हैं। यद्यपि भगवान् को अपना आत्मा समझकर अर्थात् अद्वैत रूप से ज्ञानी भक्त की तरह यह प्रेम नहीं है, तथापि भक्त का यह शुद्ध प्रेम अपने भगवान् में इतना बढा चढा रहता है कि प्रेमी भक्त का मन निर्मल तथा निश्चल हो जाता है, इसके पश्चात् अनायास ही उसे आत्म ज्ञान प्राप्त होजाता है, जिससे सर्वदा के लिये वह कृतकृत्य हो जाता है। जैसे—

नमोऽस्तु ते महायोगिन्प्रपन्नमनुशाधि माम् ।
यथात्वच्चरणाम्भोजे रतिः स्यादनपायिनी ॥
(भाग० ११।२९।४०)

हे महायोगिन्! आपको नमस्कार है। मुझ शरणागत को यह आज्ञा दीजिये जिसके द्वारा आपके चरण कमलों में सर्वदा रहने वाली भक्ति प्राप्त हो अर्थात् सदैव आपकी भक्ति बनी रहे।

मोक्षकाम भक्ति।

जीवके लिये अनर्थकारिणी जो यह अविद्या है उस अविद्या की निवृत्ति तथा परमानन्द स्वरूप की प्राप्ति रूप मोक्षकी कामना करके श्रद्धा सहित ईश्वर में जो प्रेम करना है, उसी को मोक्षकाम भक्ति कहते हैं। विवेक, वैराग्य, शम दमादि षट् सम्पत्ति और मुमुक्षुता, ये जो आत्म ज्ञान के चार साधन हैं उनकी प्राप्ति के लिये तथा वेदान्त शास्त्र के श्रवण, मनन, निदिध्यासन के द्वारा मुझे तत्त्वज्ञान प्राप्त हो, ऐसी कामना रखकर जो जिज्ञासु द्वारा ईश्वर में प्रेम किया जाता है वही मोक्षकाम भक्ति है। जैसे—

एव जिज्ञासयापोह्य नानात्मभ्रममात्मनि ।
उपारमेत विरज मनो मय्यर्प्य सर्वगे ॥
(भाग० ११।११।२१)

आत्मारूप अधिष्ठान में जो यह द्वैत रूप भेद भ्रम प्रतीत होता है उसे इस प्रकार के तत्त्व विचार स हटाकर अपने निर्मल *चित्त को सर्वव्यापी मुझ भगवान् में अर्पण करके बैठ रहना* चाहिये अर्थात् भगवद्भक्ति के सिवाय अन्य कर्मों में मन को नहीं लगाना चाहिये ।

भगवत् सान्निध्य काम भक्ति ।

भगवान् के सान्निध्य की प्राप्ति हो अर्थात् गोलोक, वैकुण्ठ आदि भगवान् के जो निवास स्थान हैं वहा रहकर भगवान् में ही सदैव चित्त लगा रहे तथा उनके समीप रहने का सुख प्राप्त होता रहे इस प्रकार सिर्फ भगवान्।के समीप रहने की कामना स ही जो भगवान् में प्रेम किया जाता है उसे भगवत्सान्निध्य काम भक्ति कहते हैं । जैसे—

न नाकपृष्ठ न च पारमेष्ठ्य न सार्वभौम न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भव वा समजम त्वा विरहय्य कांक्षे ॥
(भाग० ६।११।२५)

हे समजस अर्थात् सर्व सौभाग्यनिधे ! आपको त्याग कर स्वर्ग पृष्ठ (ध्रुवलोक), ब्रह्मलोक, सारी पृथ्वी का आधिपत्य, रसातल का आधिपत्य, योग सिद्धि और मोक्ष को भी मैं नहीं चाहता हू अर्थात् सदैव आपके सान्निध्य को ही चाहता हू ।

यद्यनीशो धारयितु मनो ब्रह्मणि निश्चलम्।
मयि सर्वाणि कर्माणि निरपेक्ष समाचर ॥
(भाग० ११।११।२२)

यदि मन को निश्चल करके ब्रह्म में लगा देने में असमर्थ हो तो निरपेक्ष भाव से अर्थात् भगवान् के सिवाय किसी की अपेक्षा न रखते हुए मेरी प्रीति के अर्थ ही कर्मों को करो अर्थात भगवान् की आराधना के विचार से ही शास्त्रानुसार कर्म करो।

अजातपक्षा इव मातर खगा. स्तन्य यथा वत्सतरा क्षुधार्त्ता ।
प्रिय प्रियेव व्युषित विषण्णा मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम् ॥
(भाग० ६।११।२६)

जिनके पक्ष नहीं निकले हैं, वे पक्षियों के बच्चे क्षुधा आदि से पीडित होकर जैसे माता के आने की प्रतीक्षा करते रहते हैं और भूखे बछड़े दूध पीने के लिये जैसे उत्सुक रहते हैं और दूर देश गत अपने पति को देखने के लिये जैसे स्त्री व्यग्र रहती है वैसे ही आपको देखने के लिये मेरा मन व्यग्र रहता है।

स्वर्गादि काम भक्ति।

स्वर्ग आदि के उत्तम से उत्तम सुख भोग जैसे अमृत पान नन्दनवन-विहार, अप्सरा-सम्भोग आदि भोगने के लिये मानव की आयु की अपेक्षा बहुत अधिक समय तक सुख भोग 'करते हुए वहा निवास करने क लिये ईश्वर में मनुष्य जो प्रेम करता है उसे स्वर्गादि काम भक्ति कहते हैं।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥
(भ० गी० २।४२)

वेद के अर्थवाद (रोचक) वचन मे ही विश्वास रखने वाले अज्ञानी मनुष्य इस पुष्पित अर्थात् सुनने में सुखद वचन को कहते हैं कि स्वर्ग आदि उत्तम लोक की प्राप्ति से बढ़कर दूसरा मनुष्य के लिये पुरुषार्थ नहीं है ।

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेष बहुलां भोगैश्वर्य गतिं प्रति ॥
(भ० गी० २।४३)

कामना से युक्त स्वर्ग आदि उत्तम लोकमें तत्पर मनुष्य जन्म, कर्म और फल देनेवाली तथा भोग और ऐश्वर्य के प्रति क्रिया विशेष अर्थात् अग्निहोत्र, ज्योतिष्टोम, दर्श पूर्णमास आदि जो कर्म कहे गये हैं, उनसे विस्तृत वाणी को अर्थात् कर्मकाण्डरूपी वेद वाणी को पुरुषार्थ मानते हैं ।

ऐहलौकिक सकाम भक्ति ।

इस लोक के सुख भोग की कामना रखकर अथवा उपस्थित दुःख की निवृत्ति के लिये जो ईश्वर में प्रेम किया जाता है, उसे ऐहलौकिक सकाम भक्ति कहते हैं। ऐहलौकिक सकाम भक्ति दो प्रकार की होती है, अर्थार्थी और आर्त ।

अर्थार्थी ऐहिक सकाम भक्ति।

स्त्री, पुत्र, धन आदि विषय भोगों की प्राप्ति के लिये ईश्वर में श्रद्धा पूर्वक जो प्रेम किया जाता है उसे अर्थार्थी सकाम भक्ति कहते हैं। जैसे—

त्वयार्चितश्चाहमपत्यगुप्तये पयोव्रतेनानुगुणं समीडितः।
स्वांशेन पुत्रत्वमुपेत्य ते सुतान् गोप्तास्मि मारीच तपस्यधिष्ठितः॥
(भाग० ८।१७।१८)

अपनी सन्तान की रक्षा करने के लिये तुमने मेरी भक्ति की है और गुण गान पूर्वक पयोव्रत से मेरा यज्ञ किया है अतएव मैं कश्यपजी की तपस्या में अधिष्ठित होकर अपने अंश द्वारा तुम्हारा पुत्र होकर तुम्हारे पुत्रों की रक्षा करूंगा।

आर्त ऐहिक सकाम भक्ति।

शत्रु, रोग, ग्रह आदि से पीडित होने पर उस पीडा की निवृत्ति के लिये श्रद्धा पूर्वक ईश्वर में जो प्रेम है, उसे आर्त सकाम भक्ति कहते हैं। जैसे—

सोऽन्तः सरस्युरुबलेन गृहीत आर्तो दृष्ट्वा गरुत्मति हरिं ख उपात्तचक्रम्। उत्क्षिप्य साम्बुजकरं गिरमाह कृच्छ्रान्नारायणाखिलगुरो भगवन्नमस्ते।
(भाग० ८।३।३२)

वह सरोवर के भीतर महाबली ग्राह से पकड़े हुए आर्त गजेन्द्र ने आकाश में गरुड के ऊपर स्थित, सुदर्शन चक्र हाथ में लिये हुए नारायण को सूँड़ देखकर से उपहार स्वरूप एक

कमल का फूल ऊपर उठाया और अति कष्ट से आर्त स्वर में उसने पुकारा "हे नारायण! हे सब के गुरु! आपको नमस्कार है।

त वीक्ष्य पीडितमज सहसावतीर्य सग्राहमाशु सरस कृपयोज्जहार। ग्राहाद्विपाटितमुखादरिणा गजेन्द्र सपश्यता हरिरमूमुचदुच्छ्रियाणाम्॥

(भाग० ८।३।३३)

गजेन्द्र का पीडित देखकर विष्णु भगवान् ने तत्क्षण गरुड की पीठ से फाद कर दया पूर्वक ग्राह सहित गजेन्द्र को सरोवर से बाहर किया और चक्र से ग्राह का शिर काट डाला। भगवान् ने इस प्रकार देवगण के सामने गजेन्द्र को सकट से मुक्त कर दिया। अब यहा ज्ञानी भक्त शुद्ध प्रेम भक्त मोक्ष काम भक्त, भगवत् सान्निध्य भक्त, स्वर्गादि भक्त और ऐहिलौकिक सकाम भक्त, इन भक्तों क स्वरूप का विवेचन करते हैं।

ज्ञानी भक्त का लक्षण।

जिस मनुष्य के हृदय में सत्त्वगुण बहुत अधिक रहे तथा जो परमात्मा में हा तत्पर रहे और जिसको समस्त जगत् की मिथ्या प्रतीति होती रहे अर्थात् यह सारा जगत् मेरा ही स्वरूप है, मेरे स्वरूप स भिन्न जा दीखता है वह मिथ्या रूप से ही दीखता है, किसी प्राणी में राग द्वेष नहीं रहे, सब को अपना ही स्वरूप समझ कर सर्वत्र प्रेम भाव रखते हुए सम बुद्धि रखे, सुख दुःख

मान अपमान शीत, उष्ण आदि प्राप्त होने पर भी उनसे विकलता न हो ऐसे मनुष्य को ज्ञानी भक्त कहते हैं। जैसे—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःख सुख क्षमीः॥
(भ० गी० १२।१३)

सब प्राणियों में द्वेष भाव से रहित, सर्वत्र प्रेम रखने वाला, दयाशील, ममता से रहित और अहंकार से रहित, क्षमाशील तथा सुख दुःख दोनों मे ही जिनका समान भाव रहता है, वह ज्ञानी भक्त है। यद्यपि ज्ञानी की भी अनुकूल अर्थात् सुख दायक वस्तुओं में प्रवृत्ति और प्रतिकूल अर्थात् दुःख दायक वस्तुओं से निवृत्ति अज्ञानी पुरुष की तरह होती है, किन्तु भेद इतना ही है कि अज्ञानी की प्रवृत्ति निवृत्ति तो तात्कालिक सुख दुःख के साधनों में होती है और ज्ञानी की प्रवृत्ति निवृत्ति परिणाम में सुख दायक है। अर्थात् अज्ञानी लोगों की प्रायः राजस और तामस कार्यों में अभिरुचि रहती है, चाहे उन्हें शास्त्र ज्ञान भी पूरा क्यों न हो, किन्तु जब तक मनुष्य के चित्त में रजोगुण अथवा तमोगुण प्रबल रहते हैं तब तक उसकी अभिरुचि राजस अथवा तामस कार्यों में ही होती रहती है और यह तर्क सिद्ध बात है कि जिधर लोगों की अभिरुचि रहती है उधर प्रवृत्ति होती है तथा उसके विरुद्ध कार्यों से निवृत्ति रहती है। इसलिये, अज्ञानी पुरुषों की प्रवृत्ति तत्काल में ही शरीर के सुख दायक वस्तुओं में होती है और तत्काल में

जो शरीरके दु खदायक पदार्थ हैं उनसे निवृत्ति होती है। परिणाम में इसका क्या फल है उसको नहीं विचारते, अथवा विचार करने पर भी उन्हें इसका अनुभव नहीं होता है, अतएव वे सासारिक सुख प्राप्त करके ही अपने को सुखी तथा कृतकृत्य समझते हैं और दु ख प्राप्त करके अपने को दु खी तथा दीन हीन समझते हैं। तात्पर्य यह है कि सासारिक सुख दु खों का असर अज्ञानी के चित्त पटल पर तीव्रतर रूप से पडता है, जिससे उसका करुण क्रन्दन कभी हट नहीं सकता है, क्योंकि जो सासारिक सुख हैं वे भी दु खों से आक्रान्त हैं। कभी कभी अज्ञानी लोग भी शास्त्र के विचार से या सत्सग आदि करने से सासारिक सुख दु:खों को मिथ्या कहने लग जाते हैं और सर्वत्र समभाव रखने की प्रशसा करने लगते हैं किन्तु उन्हें इसका अनुभव नहीं रहता है। यह उनका परोक्ष ज्ञान है इसलिये वह ज्ञान टिकाऊ और निश्च यात्मक नहीं होता है।

ज्ञानी पुरुष की प्रवृत्ति प्राय सात्त्विक होती है। परिणाम में जो सुख दायक पदार्थ हैं उनमें उनकी प्रवृत्ति होती है और परि णाम में जो दु:ख दायक हैं उनसे उनकी निवृत्ति होती है। सात्त्विक रूप से शरीर के अनुकूल पदार्थ में प्रवृत्ति और प्रति-कूल पदार्थ में निवृत्ति रहती है। ज्ञानी लोगों की अभिरुचि सात्त्विक कार्यों में रहती है और जिधर अभिरुचि रहती है उधर ही प्रवृत्ति होती है तथा उसके विरुद्ध कार्यों से निवृत्ति रहती है, इसीलिये ज्ञानी पुरुष सदैव यह विचारते हैं कि इसका

अन्त में क्या फल होगा। उन्हें इन सुख दुःखों के स्वरूप का अनुभव रहता है अर्थात् सासारिक जो सुख दुःख हैं वे क्षणिक मिथ्या आभास मात्र हैं, वास्तव नहीं है, इस प्रकार अपरोक्ष रूप दृढ ज्ञान सर्वदा रहने के कारण ज्ञानी के चित्त पटल पर सासारिक सुख दुःखों का असर अज्ञानी की तरह तीव्र रूप से नहीं पड़ता, अत्यन्त अल्प रूप से पड़ता है। इसलिये, ज्ञानी लोग उन सुख दुःखों को मिथ्या समझ कर उनसे अपने को सुखी तथा दुःखी नहीं समझते।

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः॥

जो ऋषि लोग आत्माराम हैं अर्थात् जिन्होंने आत्मा का साक्षात्कार रूप आनन्द प्राप्त किया है, जिन्हें संसार बन्धन नहीं है, वे भी बिना किसी प्रकार के उद्देश से ही भगवान् की भक्ति करते हैं, क्योंकि भगवान् का ऐसा ही गुण है।

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥
(भ० गी० १२।१४)

जो सदैव प्रसन्न रहने वाला ध्यान योग में रत रहता है जिसने अपने मन को एकाग्र किया है और जिसका मुझ भगवान् में दृढ निश्चय है तथा जो मुझमें मन बुद्धि को समर्पण कर चुका है ऐसा मेरा भक्त मुझे प्रिय है।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च य. ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो य स च मे प्रिय. ॥
(भ० गी० १२।१५)

जिससे किसी जीव को कष्ट नहीं होता और जो स्वय भी किसी जीव से कष्ट नहीं पाता हर्ष और अमर्ष अर्थात् दूसरों की बढ़ाई नहीं देखता, भय और व्याकुलता इनसे जो रहित है वह मुझको प्रिय है।

अनपेक्ष शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथ. ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्त स मे प्रिय ॥
(भ० गी० १२।१६)

जो पुरुष कामनासे रहित, पवित्र और चतुर है अर्थात् मानव शरीरका फल प्राप्त कर चुका है, जो उदासीन रहता है, जिसे किसी प्रकार की व्यथा नहीं है, जो ऐहिक तथा पारलौकिक सारे कर्मों का परित्याग करने वाला अर्थात् पूर्ण सन्यासी है, ऐसा मेरा भक्त मुझको प्रिय है।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्य स मे प्रिय ॥
(भ० गी० १२।१७)

जिस पुरुष को किसी विषय के प्राप्त होने से न तो हर्ष होता है और न किसी के ऊपर द्वेष होता है, न शोक करता है न किसी की कामना करता है, ऐसा शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्मों को त्यागने वाला मेरा भक्त मुझे प्रिय है।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः ॥
(भ० गी० १२।१८)

शत्रु और मित्र दोनों में जो समान भाव से रहता है अर्थात् न किसी के ऊपर राग है और न किसी के ऊपर द्वेष ही है, मान और अपमान दोनों में एक सा रहता है, शीत और उष्ण से होने वाले जो सुख दुःख हैं उन दोनोंमें ही एक सा रहता है और किसी का जिसे सङ्ग नहीं है, वह भक्त मुझे प्रिय है।

तुल्य निन्दा स्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येनकेनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥
(भ० गी० १२।१९)

निन्दा और स्तुति इन दोनों को ही जो समान समझता है, मितभाषी है बिना किसी प्रकारके विशेष प्रयत्न करनेपर बलवान प्रारब्ध कर्म के प्रभाव से जो कुछ भी शरीर धारण के भोजन आदि प्राप्त होजाते हैं उन ही से सन्तुष्ट रहे, निश्चित रूप से रहने का घर न हो, जिसकी परमार्थ चिन्तन करने की बुद्धि दृढ हो ऐसा मेरा भक्त मुझको प्रिय है।

देहेन्द्रियप्राणमनोधिया यो जन्माप्ययक्षुद्भयतर्षकृच्छ्रैः ।
संसारधर्मैरविमुह्यमानः स्मृत्या हरेर्भागवतप्रधानः ॥
(भाग० ११।२।४९)

भगवान् के स्मरण करने के प्रभाव से जो मनुष्य देह के धर्म जो जन्म और नाश है, प्राण के धर्म क्षुधा, पिपासा, मन का

धर्म भय, बुद्धि की तृष्णा, इन्द्रियों का धर्म श्रम, इन सामारिक धर्मों मे मोहित नहीं होता है वह भक्तों में श्रेष्ठ है।

न यस्य स्व पर इति वित्तेष्वात्मनि वा भिदा।
सर्वभूतसम शान्त स वै भागवतोत्तम ॥
(भाग० ११।२।५२)

अपने धन में या आत्मा म "यह अपना है यह पराया है" ऐसा भाव जिसका नहीं रहता है, सब प्राणियों का समान रूप से देखता है, शान्ति से युक्त है वह भक्तों म श्रेष्ठ है। सनकादि ऋषि, नारद, पृथु, प्रह्लाद तथा शुकदेवजी, ये सब ज्ञानी निष्काम भक्त हुए हैं।

शुद्ध प्रेम भक्त।

जिस मनुष्य के हृदय में श्रीभगवान् का शुद्ध प्रेम है और वह भक्त बिना किसी उद्देश से, अटूट श्रद्धा से भगवान् को ही अपना सब कुछ समझकर सासारिक बन्धन आदि किसी प्रकार की विघ्नबाधाओं की परवाह नहीं करता हुआ पूर्व जन्म के प्रबल सस्कार से केवल भगवान् में ही भक्ति करता है, उसे शुद्ध प्रेम भक्त कहते हैं। जैसे—

न पारयेऽह निरवद्य सयुजा स्वसाधुकृत्य विबुधायुषापि व।
या माऽभजन्दुर्जरगेहशृंखला सवृश्च्य तद्व प्रतियातु साधुना॥
(भाग० १०।३२।२२)

(गोपियों के प्रति श्रीकृष्ण भगवान् का कथन है) तुम लोगों ने दृढतर-जो गृह शृखला (गृह बन्धन) है उसे तोडकर

शुद्ध प्रेम भाव से मुझे पाकर जो मेरा भजन किया है, मैं देव ताओं की इतनी आयु से भी तुम्हारे इस साधु कृत्य का बदला नहीं चुका सकता अर्थात् प्रत्युपकार करके मैं उद्धार नहीं पा सकता। तुम्हारी सुशीलता से ही मैं ऋण–मुक्त होऊंगा।

मोक्ष काम मुमुक्षु भक्त।

जिस मनुष्य के अन्त करण में सत्त्वगुण अधिकाधिक रहे, रजोगुण और तमोगुण अल्प रहे। विवेक, वैराग्य, शम, दम आदि षट् सम्पत्ति मोक्ष की प्रबल कामना तथा भगवान में भक्ति रहे उसे मोक्ष काम भक्त कहते हैं। जैसे—

अमूलमेतद्बहुरूपरूपित मनोवच प्राण शरीर कर्म।
ज्ञानासिनोपासनयाशितेन छित्वा मुनिर्गां विचरत्यतृष्ण ॥
(भाग० ११।२८।१७)

मननशील मोक्ष काम व्यक्ति मन, वाणी, प्राण और शरीरके नाना प्रकारके कर्मोंको ज्ञान और उपासना के तीक्ष्ण ज्ञान रूपी खड्ग के द्वारा काटकर तृष्णा रहित होकर पृथ्वी में विचरण करता है। मुचुकुन्द, राजा जनक, श्रुतदेव आदि मोक्ष काम भक्त हुए हैं।

भगवत्सान्निध्य काम भक्त।

जिस मनुष्य के हृदय म सत्त्वगुण अधिक रहे और रजो गुण, तमोगुण कम हो, भगवान् के सगुण रूप में श्रद्धा और प्रेम हो, भगवान् की कथा और चरित्रों के सुनने और कहने में ही तत्पर रहे, सारे कर्मों की सफलता और असफलता ईश्वर के द्वारा ही समझे, भगवान् के शरणागत होने के सिवाय दूसरे

किसी पुरुपार्थ को न समझे, भगवान् की प्राप्ति के लिये दिन रात व्याकुल रहे, उससे बढ़कर दूसरा अपना कर्त्तव्य न समझे, शीत-उष्ण, सुख-दु:ख, मान-अपमान आदि उपस्थित होने पर विकल न हो, विषय भोग में लोलुप न हो, नवधा भक्ति से सम्पन्न हो, अपने वर्णाश्रम में विहित जो कर्म हैं उनके फल को भगवान में समर्पण करते हुए उनका आचरण करे तथा सारे कर्मों के द्वारा एकमात्र इसीकी सर्वदा तीव्र रूप से अभिलापा रखे कि मुझे भगवान् का सान्निध्य प्राप्त हो, मैं भगवान् के चरणों को देखता रहूँ, इन लक्षणों से युक्त पुरुष को भगवत्सान्निध्यकाम भक्त कहते हैं। व्रज की गोपिया, अक्रूर, सुदामा, अम्बरीप आदि भगवत्सान्निध्यकाम भक्त हुए हैं। जैसे—

स्मरन्त. स्मारयन्तश्च मिथोऽघौघहर हरिम्।
भक्त्या सजातया भक्त्या बिभ्रत्युत्पुलका तनुम् ॥
(भाग० ११।३।३१)

पाप पुज को नाश करने वाले जो श्रीभगवान् हैं उनका स्मरण करे, औरों को भी स्मरण करावे। साधन भक्ति के द्वारा प्रेम भक्ति को प्राप्त करके भगवान् की कथा में आनन्द से जिसके रोमाच होने लगे।

क्वचिद्रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचिद्धसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिका:।
नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः॥
(भाग० ११।३।३२)

भगवान्‌की चिंतामें तन्मय होकर कभी रोते हैं और कभी हंसते हैं कभी प्रसन्न होते हैं, कभी कुछ भगवान् की कथा कहने लगते हैं, कभी नाचते हैं, कभी गाते हैं, कभी भगवान् के चरित्रोंका विचार करने लगते हैं, इस प्रकार भगवान् की भक्ति के द्वारा वे लोकोत्तर (उत्तम) भक्त भगवान् को प्राप्त करके सर्वदा के लिये शान्ति प्राप्त करते हैं।

त्रिभुवन विभवहेतवेऽप्यकुण्ठस्मृतिरजितात्म सुरादिभिर्विमृग्यात्।
न चलतिभगवत्पदारविन्दाल्लवनिमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः॥
(भाग० ११।२।५३)

भगवान् में एकाग्र रहने वाले जो देवादि हैं उनके लिये भी दुर्लभ जो भगवान् के चरण हैं उन चरणों के सिवाय कुछ भी सार नहीं है इस प्रकार की दृढ़ बुद्धि वाले जो मनुष्य त्रैलोक्य के साम्राज्य मिलने पर भी निमिषार्ध अर्थात् आधे पल भर भी भगवान् के भजन से विचलित नहीं होते हैं वे ही वैष्णव भक्तों में श्रेष्ठ हैं।

भगवत उरुविक्रमांघ्रि शाखानखमणिचन्द्रिकया निरस्त तापे।
हृदि कथमुपसीदतां पुनः स प्रभवति चन्द्र इवोदितेऽर्क तापः॥
(भाग० ११।२।५४)

चन्द्रमा के उदय होने पर जसे सूर्य का ताप मिट जाता है वैसे ही भगवान् के परम पराक्रमी चरणों की अंगुलियों के नख मणि की चांदनी से भक्तों के हृदय के सब ताप मिट जाते हैं और वे पुन. हृदय में नहीं आ सकते हैं।

विसृजति हृदय न यस्य साक्षाद्धरिरवशाभिहितोऽप्यघौघ नाशः ।
प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्म स भवति भागवतप्रधान उक्त ॥
(भाग० ११।२।५५)

विवश अवस्था मे भी अचानक मुख से जिस भगवान् के पवित्र नाम निकलने से सब पाप नष्ट होजाते हैं वह भगवान् साक्षात् प्रणय पास से वधकर जिस भक्त के हृदय में निवास करते रहते हैं, वही भगवान् के भक्तो में श्रेष्ठ हैं।

स्वर्गादि काम भक्त ।

जिस मनुष्य के हृदय मे सत्त्वमिश्रित रजोगुण अधिकाधिक हो और तमोगुण अल्प रहे, सत्त्वगुण की अपेक्षा रजोगुण अधिक प्रबल रहे तथा तमोगुण की अपेक्षा सत्त्वगुण प्रबल रहे स्वर्ग आदि उत्तम लोक प्राप्तिकी तीव्र कामना सर्वदा उसके हृदय मे जाज्वल्यमान रहे, स्वर्ग आदि प्राप्ति के लिये शास्त्रानुसार कर्मानुष्ठान में लगा रहे, वेद के कर्मकाण्डको ही सर्व श्रेष्ठ समझे स्वर्ग आदि उत्तम लोक की प्राप्ति के लिये भगवान् में प्रेम रखे, ऐसे भक्त को स्वर्गादि काम भक्त कहते हैं। जैसे—

त्रैविद्या मा सोमपा पूतपापा ।
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ॥
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक–
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥
(भ० गी० ९।२०)

तीनों वेदों का अध्ययन करने वाले याज्ञिक लोग यज्ञ में सोमपान करके निष्पाप होकर यज्ञों के द्वारा मेरी आराधना करके स्वर्गलोक की कामना करते हैं और वे पवित्र इन्द्रलोक प्राप्त करके अनेक प्रकार के दिव्य सुख पाते हैं।

लौकिक सकाम भक्त।

जिस पुरुष के हृदय में रजोगुण अधिकाधिक रूप से प्रबल रहे और सत्त्वगुण, तमोगुण अत्यल्प रहे, स्त्री, पुत्र, धन आदि सांसारिक विषयों के प्राप्त होने की प्रबल कामना रहे, उन विषयों की प्राप्ति के लिये ही जो भगवान् में प्रेम रखता है, उसे लौकिक सकाम भक्त कहते हैं। विभीषण, सुग्रीव, उपमन्यु, रुक्मिणी आदि लौकिक सकाम भक्त हुए हैं। जैसे रुक्मिणी ने कहा है—

पूर्तेष्टदत्तनियमव्रतदेवविप्रगुर्वर्चनादिभिरलं भगवान्-परेशः। आराधितो यदि गदाग्रज एत्य पाणिं गृह्णातु मे न दमघोषसुतादयोऽन्ये॥

(भाग० १०।५२।४०)

यदि पूर्त (कुआ आदि खुदवाना) इष्ट (अग्नि होत्रादि) दान, नियम, व्रत एवं देवता, ब्राह्मण और गुरुओं के पूजन आदि के द्वारा भगवान् परमेश्वर की मैंने कुछ आराधना की है तो कृष्ण भगवान् आकर मेरा पाणिग्रहण करें और दमघोष के पुत्र (शिशुपाल) आदि राजा लोग मेरा पाणि ग्रहण न कर सकें।

आर्त काम भक्त।

जिसके हृदय में रजोगुण अल्प हो, सत्त्वगुण और तमोगुण समान रूप से रहे, आध्यात्मिक या आधिदैविक अथवा आधिभौतिक तापों से पीडित हो तथा अपने उपस्थित दुःखों क विनाश करने के लिये जो श्रद्धा रखकर ईश्वर मे प्रेम करता है उसे आर्त काम भक्त कहते हैं। गजेन्द्र, द्रौपदी आदि आर्त काम भक्त हुए हैं। जैसे—

पाहि पाहि महा योगिन्देवदेव जगत्पते ।
नान्य त्वदभय पश्ये यत्र मृत्यु॰ परस्परम् ॥
(भाग॰ १।८।९)

हे महा योगिन्! जगत्पते रक्षा करो रक्षा करो। आपके सिवाय दूसरा कोई रक्षा करने वाला नहीं है, क्योंकि अन्य सब लोग स्वय मृत्यु के वशवर्त्ती हैं।

अभिद्रवति मामीश शरस्तप्तायसो विभो ।
काम दहतु मां नाथ मा मे गर्भो निपात्यताम् ॥
(भाग॰ १।८।१०)

हे प्रभो! यह अग्नि में देकर तपाया हुआ लोहे का बाण मेरी तरफ चला आ रहा है। हे नाथ! यह बाण मुझको भले ही जलादे पर मेरा गर्भ नष्ट न हो। इन भक्तों में ज्ञानी भक्त सर्व श्रेष्ठ भक्त हैं। यद्यपि शास्त्रों में ऐसे भी वचन पाये जाते हैं जिनमें ज्ञान और भक्ति से कर्म और सगुण भगवान् की उपासना की अधिक प्रशसा की गयी है। जैसे—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःख देहवद्भिरवाप्यते ॥
(भ० गी० १२।५)

ज्ञान रूप निर्गुण ब्रह्म में जिसका चित्त आसक्त है उस निर्गुण ब्रह्म ज्ञान में निष्ठा रखने वाले भक्त को अधिकाधिक क्लेश होता है क्योंकि अक्षर रूप ब्रह्म देहधारी मनुष्यों के द्वारा महा कठिनतासे प्राप्त किया जाता है । तात्पर्य यह है कि कर्म और सगुण भगवद्भक्ति में जो आसक्त रहते हैं उन्हे अधिक क्लेश होता है किन्तु उससे भी अधिक क्लेश ज्ञान भक्ति में आसक्त पुरुष को होता है इस प्रकार निर्गुण उपासना की निन्दा के जो वचन शास्त्र में कहे गये हैं वे सगुण उपासना की प्रशसा करने के लिये कहे गये हैं किन्तु उपेक्षा भाव से हेय रूप से निन्दा नहीं की गयी है । जैसे कर्मकाण्डमें "उदित होम विधि में अनुदित होम विधि की निन्दा की गयी है" वहा अनुदित होम विधि की निन्दा में शास्त्र का तात्पर्य नहीं है, किन्तु उदित होम विधि की प्रशसा करने मे शास्त्र का तात्पर्य है । उसी प्रकार निर्गुण ब्रह्म की उपासना की निन्दा करने में शास्त्र का तात्पर्य नहीं है किन्तु सगुण उपासना की स्तुति करने में शास्त्र का तात्पर्य है ।

"नहि निन्दा निन्द्य निन्दितुं प्रवर्त्ततेऽपि तु विधेय स्तोतुमितिन्यायात् ।"

ध. म. र. १४

निन्दा के वचन निन्द्य वस्तु की निन्दा करने के लिये नहीं कहे जाते किन्तु विधेय अर्थात् जो प्रतिपाद्य विषय है उसकी स्तुति करनेके लिये उसके विरुद्ध की निन्दा की जाती है। इसलिये शास्त्रका निन्दा करने में तात्पर्य नहीं है, किन्तु उसके विरुद्ध वस्तु जिसका प्रतिपादन करना होता है उसकी प्रशंसा में शास्त्र का तात्पर्य है। अत उक्त प्रकारके शास्त्रके वचन रोचक (स्तावक) अर्थवाद रूप हैं क्योंकि शास्त्रों में अनेक स्थल में सगुण उपासना को निर्गुण उपासनाका साधन कहा गया है, इसलिये निर्गुण उपासना की जो कहीं निन्दा की गयी है वह अर्थवाद रूप होने से तात्पर्य से रहित है। जैसे—

निर्विशेष परंब्रह्म साक्षात्कर्तुमनीश्वराः ।
ये मन्दास्तेऽनुकम्प्यन्ते स विशेषनिरूपणैः ॥
वशीकृते मनस्येषां सगुण ब्रह्मशीलनात् ।
तदेवाविर्भवेत् साक्षादपेतोपाधिकल्पनम् ॥

निर्गुण जो परं तत्त्वरूप ब्रह्म हैं उनके साक्षात्कार करने में जो असमर्थ है ऐसे मन्दजन के लिये सगुण उपासना का निरूपण करके उनके ऊपर कृपा की गयी है सगुण उपासना के अभ्यास करने से जब उनका भी चित्त एकाग्र हो जाता है अर्थात् निर्गुण उपासना करने के लिये योग्य हो जाता है तब उनके चित्त में उपाधि रहित निर्गुण की उपासना का स्वयं आविर्भाव हो जाता है। भगवान पतञ्जलि ने भी कहा है; जैसे—

"समाधि सिद्धिरीश्वर प्रणिधानात्"

सगुण उपासना से चित्त की एकाग्रता रूप समाधि की सिद्धि (प्राप्ति) होती है।

ततः प्रत्यक् चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च"

सगुण की उपासना से आत्म-ज्ञान में निष्ठा उत्पन्न होती है और विघ्नों का अभाव होता है। इस प्रकार शास्त्रों के विचार करने से यह सिद्ध होता है कि ज्ञानी भक्त सर्व श्रेष्ठ भक्त हैं और वे ही वास्तव में योगवित्तम अर्थात् श्रेष्ठ योगज्ञ हैं। इसीलिये शास्त्र में सर्वत्र ज्ञानी भक्त की सर्वोच्चता दिखाई गई है; जैसे—

ज्ञानीत्वात्मैव मे मतम् ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ॥
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ।
न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ॥
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥

ज्ञानी मुक्त भगवान् का आत्म स्वरूप ही है, हे अर्जुन, ज्ञान रूपी अग्नि सारे कर्मों को जलाकर राख बना डालता है। इस संसार में ज्ञान की तरह पवित्र वस्तु कुछ नहीं है। ज्ञान रूपी नौका के सहारे से ही तुम पाप रूपी समुद्र से तर जाओगे। ज्ञान को प्राप्त करके मनुष्य शीघ्र ही पराशान्ति को प्राप्त करता है। पूर्वोक्त वचन गीता के चतुर्थ अध्याय में कहे गये हैं और इस प्रकार के वचनों से सब सत्शास्त्र भरे पड़े हैं। अब यहां उन भक्तियों के साधन का निरूपण करता हूं।

अनन्य (निष्काम) भक्ति के साधन ।

निष्काम भाव से ईश्वर के शरणागत होना, भगवान् के निर्गुण स्वरूप सत् चित् आनन्द रूप का सदैव ध्यान करना, श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु से यथावत् वेदान्त शास्त्र का श्रवण करके उसका मनन और निदिध्यासन करते रहना, तत्त्वज्ञान प्राप्त होने के लिये श्रद्धा रखकर ईश्वरकी आराधना करना, विवेक, वैराग्य, शम दमादि षट् सम्पत्ति, मुमुक्षुता इस साधन चतुष्टय को प्राप्त करना, विषय भोग की आसक्ति को छोड़ देना, सुखदु'ख, मान-अपमान, जब जो उपस्थित हो उन्हें प्रारब्ध का भोग समझकर निश्चल भाव से भोगना, ये सब अनन्य भक्ति के साधन हैं। जैसे—

जन्तुषु भगवद्भावं भगवति भूतानि पश्यति क्रमशः ।
एतादृशी दशा चेत्तदैव हरिदासवर्यः स्यात् ॥
(प्रबोध सुधाकर १८३)

वह साधक क्रमशः सारे प्राणियों में भगवान् को और भगवान् में सारे प्राणियोंको देखने लगता है; जब ऐसी दशा होजाय तब उसे भगवद्भक्तों में श्रेष्ठ समझना चाहिये।

सर्वनारमेश्वरान्वीक्षां कैवल्यमनिकेतताम् ।
विविक्तचीरवसनं सन्तोषं येन केनचित् ॥
(भाग० ११।३।२५)

"सचित् रूप आत्मा है तथा चराचर जगत् का नियन्ता ईश्वर है" ऐसा निश्चय करना, एकान्त में रहना, गृह आदिका

अभिमान न रखना, पवित्र वल्कल पहनना और जो कुछ मिले उसीमें सन्तोष कर लेना चाहिये।

श्रद्धां भागवते शास्त्रेऽनिन्दामन्यत्र चापि हि।
मनोवाक्कर्म दण्डं च सत्यं शमदमावपि॥
(भाग० ११।३।२६)

भगवान् के चरित्र हैं जिनमें ऐसे शास्त्रोंमें श्रद्धा रखना, अन्य शास्त्रों की निन्दा न करना, प्राणायाम के द्वारा मन का, मौन के द्वारा वचन का, कामना त्याग के द्वारा कर्म का दण्ड करना, सत्य बोलना, अन्तःकरण का और चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियों का निग्रह करना चाहिये।

मामेव सर्वभूतेषु बहिरन्तरपावृतम्।
ईक्षेतात्मनि चात्मानं यथा खममलाशयः॥
(भाग० ११।२९।१२)

निर्मल चित्त होकर सारे प्राणियों में और आत्मा में आवरण रहित, आकाश की तरह बाहर भीतर सर्वत्र ईश्वर रूप से अवस्थित मुझको देखना चाहिये।

इति सर्वाणि भूतानि मद्भावेन महाद्युते।
स भाजयन्मन्यमानो ज्ञानं केवलमाश्रितः॥
(भाग० ११।२९।१३)

हे महाप्राज्ञ! इस प्रकार केवल ज्ञान रूप दृष्टि से युक्त होकर सारे प्राणियों को ईश्वर भाव से जो समझता है वह पण्डित है।

ब्राह्मणे पुल्कसे स्तेने ब्रह्मण्येऽर्के स्फुलिंगके ।
अक्रूरे क्रूरके चैव समदृक्पण्डितो मतः ॥
(भाग० ११।२९।१४)

विषम पदार्थों में भी जो सम भाव रखते हैं वह पण्डित हैं। चार प्रकार के वैपम्य दिखाते हैं, जैसे--जाति का वैषम्य, कर्म का वैपम्य, गुण का वैपम्य और स्वभाव का वैपम्य। ब्राह्मण और चाण्डाल दोनों को जो समान भाव से देखता है, ब्रह्मस्व हरने वाले चोर, ब्राह्मण को, दान देने वाले व्यक्ति को तथा सूर्य, एक सामान्य स्फुलिंग (चिनगारी) को और शान्त व्यक्ति तथा क्रूर व्यक्ति को जो समान भाव से देखता है वही पण्डित है।

नरेष्वभीक्ष्णं मद्भावं पुंसो भावयतोऽचिरात् ।
स्पर्धासूयातिरस्काराः साहंकारा वियंति हि ॥
(भाग० ११।२९।१५)

जो मनुष्य सब प्राणियों में नित्य बारम्बार भगवान् की भावना करता है उसके चित्तसे शीघ्र ही स्पर्धा, असूया, तिरस्कार, अहंकार आदि भेद भाव दूर होजाते हैं।

यावत्सर्वेषु भूतेषु मद्भावो नोपजायते ।
तावदेवमुपासीत वाङ्मनःकायवृत्तिभिः ॥
(भाग० ११।२९।१७)

जब तक सब प्राणियों में भगवान् की भावना नहीं उत्पन्न हो तब तक इस प्रकार वचन, मन और शरीर के व्यापारों से भगवान् की उपासना करनी चाहिये।

सर्वं ब्रह्मात्मकं तस्य विद्ययात्ममनीषया ।
परिपश्यन्नुपरमेत सर्वतो मुक्तसंशयः ॥
(भाग० ११।२९।१८)

आत्मज्ञान के प्रभाव से यह सारा चराचर जगत् ब्रह्ममय है, यह विचार जब भक्त को दृढ रूप से निश्चयात्मक हो जाय तब सर्व प्रकार के संशय से रहित होकर इस प्रकार के साधनों से निवृत्त हो जाना चाहिये ।

अयं हि सर्वकल्पानां सध्रीचीनो मतो मम ।
मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायवृत्तिभिः ॥
(भाग० ११।२९।१९)

हे उद्धव ! सब प्राणियों में मन, वचन, शरीर के व्यापारों से युक्त भगवान् की भावना रखना यह साधन मेरे मिलने के सब प्रकार के साधनों से श्रेष्ठ है ।

नह्यंगोपक्रमे ध्वंसो मद्धर्मस्योद्धवाण्वपि ।
मया व्यवसितः सम्यङ् निर्गुणत्वादनाशिषः ॥
(भाग० ११।२९।२०)

हे उद्धव ! आरम्भ के पश्चात् किसी प्रकार के विघ्न या विफलता आदि के द्वारा इस धर्म का अणु मात्र भी ध्वंस नहीं होता है, क्योंकि कामना शून्य इस निष्काम धर्म को मैंने ही निश्चित किया है ।

एषाबुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम् ।
यत्सत्यमनृतेनेहमर्त्येनाप्नोति मामृतम् ॥
(भाग० ११।२९।२२)

इस असत्य, नाशवान् मानव देह द्वारा इसी जन्म में सत्य और अविनाशी मुक्त भगवान् को प्राप्त कर लेना ही बुद्धिमानों की बुद्धिमत्ता और चतुर पुरुषों का चातुर्य है।

एष तेऽभिहितः कृत्स्नो ब्रह्मवादस्य संग्रहः।
समासव्यासविधिना देवानामपि दुर्गमः॥
(भाग० ११।२९।२३)

संक्षेप और विस्तार से यह समस्त ब्रह्मवाद का संग्रह कह दिया है यह देवताओं के लिये भी दुर्गम है।

मोक्ष काम भक्ति के साधन।

जो अनन्य भक्ति के साधन कहे गये हैं वे ही मोक्ष काम भक्ति के भी साधन हैं।

निवृत्तं कर्म सेवेत प्रवृत्तं मत्परस्त्यजेत्।
जिज्ञासायां संप्रवृत्तो नाद्रियेत्कर्मचोदनाम्॥
(भाग० ११।१०।४)

मुक्त भगवान् में तत्पर होकर निवृत्त अर्थात् नित्य नैमित्तिक कर्म मात्र करना चाहिये, प्रवृत्त अर्थात् काम्य कर्म का त्याग कर देना चाहिये। जैसे—

मोक्षार्थी न प्रवर्तेत तत्र काम्य निषिद्धयोः।
नित्य नैमित्तिके कुर्यात् प्रत्यवाय जिहासया॥

मुमुक्षु पुरुष को काम्य और निषिद्ध कर्मों का त्यागकर देना चाहिये, भविष्यमें पाप उत्पन्न न हो इसलिये सिर्फ नित्यनैमित्तिक

कर्म करना चाहिये किन्तु जब पूर्ण रूप से आत्मा के विचार में प्रवृत्त हो तब नित्य नैमित्तिक कर्मों की भी विशेष आस्था त्याग देनी चाहिये।

यमानभीक्ष्णं सेवेत नियमान्मत्परः क्वचित्।
मदभिज्ञं गुरुं शान्तमुपासीत मदात्मकम्॥
(भाग० ११।१०।५)

किन्तु मुझ भगवान् में तत्पर होकर अहिंसा आदि यमों का सेवन अवश्य करना चाहिये, शौच आदि नियमों का भी यथा शक्ति पालन करना चाहिये और भगवान् को जाननेवाले शान्त, साक्षात् मेरे स्वरूप गुरु की उपासना करनी चाहिये।

अमान्यमत्सरो दक्षो निर्ममो दृढ सौहृदः।
असत्वरोऽर्थ जिज्ञासुरनसूयुरमोघवाक्॥
(भाग० ११।१०।६)

अभिमान, मत्सर, आलस्य और ममता को छोडकर दृढ़ प्रेम और श्रद्धा से गुरु की सेवा करनी चाहिये। तत्त्व जिज्ञासु शिष्य को चचलता, असूया, निरर्थक वार्तालाप छोडकर गुरुकी सेवा में उपस्थित रहना चाहिये।

जायापत्यगृहक्षेत्रस्वजनद्रविणादिषु।
उदासीनः समं पश्यन्सर्वेष्वर्थमिवात्मनः॥
(भाग० ११।१०।७)

अपने प्रयोजन (परम सुखरूप आत्मा) को सर्वत्र समान देखता हुआ अर्थात् सर्वत्र समदर्शी होने के कारण स्त्री, सन्तान, गृह, पृथिवी, परिवार, धन आदि में ममता का त्यागकर केवल गुरु की सेवा करनी चाहिये।

तितिक्षुर्द्वन्द्वमात्राणा सुशील सयतेन्द्रिय. ।
शान्त समाहितधिया ज्ञानविज्ञानसयुत' ॥
(भाग० ११।२९।४३)

शीत उष्ण, सुख दु ख मान अपमान आदि द्वन्द्वों का सहन करता हुआ, सरल, जितेन्द्रिय, शान्त, एकाग्रचित्त के द्वारा शास्त्र ज्ञान तथा ब्रह्म ज्ञान से सम्पन्न होना चाहिये।

योग निषेवतो नित्य कायश्चेत्कल्पतामियात् ।
तच्छ्रद्दध्यान्न मतिमान्योगमुत्सृज्यमत्परः ॥
(भाग० ११।२८।४३)

समाधि योग का अङ्ग स्वरूप प्राणायाम आदि योग का नित्य अभ्यास करने से किसी के शरीर में वृद्धावस्था, रोग आदि नहीं होते हैं किन्तु बुद्धिमान् पुरुष को समाधि योग को छोडकर उस सिद्धि लाभ में आसक्त नहीं होना चाहिये, उन्हें तो भगवान् में तत्पर रह कर समाधि योग का सेवन तब तक करते रहना चाहिये जब तक मोक्ष प्राप्त न हो जाय।

सत्य समस्तजन्तुषु कृष्णस्यावस्थितेर्ज्ञानम् ।
अद्रोहो भूतगणे ततस्तु भूतानुकम्पा स्यात् ॥

प्रमितयदृच्छालाभे सन्तुष्टिर्दारपुत्रादौ ।
ममताशून्यत्वमतो निरहङ्कारत्वमक्रोध ॥
मृदुभाषिता प्रसादो निजनिन्दाया स्तुतौ समता ।
सुखदु खशीतलोष्ण द्वन्द्व सहिष्णुत्वमापदो न भयम् ॥
(प्रबोध सुधाकर १७७,१७८ १७९)

सत्य का पालन करना, सब प्राणियों में भगवान् का अस्तित्व समझना, किसी प्राणी का भी द्रोह नहीं करना, इन साधनों से उत्पन्न हुई समस्त प्राणियों पर दया, प्रारब्धानुकूल स्वल्पलाभ में भी सन्तोष रखना स्त्री और पुत्र आदि में ममता शून्य होना, अहकार और क्रोध से रहित होना, अल्प भाषण करना, प्रसन्न चित्त रहना, अपनी निन्दा और स्तुति दोनों में ही समान भाव से रहना, सुख, दुःख, शीत, उष्ण आदि द्वन्द्वों का सहन करना, आपत्तियों से भी भीत न होना ये सब मोक्ष काम भक्ति के साधन हैं।

सर्वतो मनसोऽसङ्गमादौ सङ्ग च साधुषु ।
दया मैत्रीं प्रश्रय च भूतेष्वद्धा यथोचितम् ॥
(भाग० ११।३।२३)

सब विषयों से मन को हटाकर एकाग्र रखना, पहले साधुओं का सग करना, यथोचित रूप से सब प्राणियों में दया, मित्रता और विनय का व्यवहार करना अर्थात् अपने से हीन व्यक्ति में दया, समान में मित्रता, अपने से बडे में विनय का व्यवहार करना चाहिये।

शौचं तपस्तितिक्षां च मौनं स्वाध्यायमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च समत्वं द्वन्द्वसंज्ञयोः ॥
(भाग० ११।३।२४)

पवित्रता, अपने धर्मों का पालन करना, क्षमा, वृथा वार्त्तालाप न करना, सत् शास्त्रों का अध्ययन, सरलता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, सुख दुःख आदि द्वन्द्व पदार्थोंको समान रूपसे समझना ये सब मोक्ष काम भक्ति के साधन हैं।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥
(भ० गी० २।६१)

मुझ भगवान् में तत्पर होकर सब इन्द्रियों को अपने वश में करके एकाग्र होकर ध्यान करता है, क्योंकि जिस पुरुष की इंद्रिया अपने वश में हो जाती हैं उसी की बुद्धि स्थिर होती है।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥
(भ० गी० १२।३,४)

जो पुरुष इन्द्रियों के समुदाय को अच्छी तरह अपने वश में करके मन बुद्धि से परे, सर्वव्यापी, अकथनीय स्वरूप, सर्वदा एक रस, नित्य, अचल, निराकार अविनाशी ब्रह्म का सर्वत्र

समदर्शी होकर तथा सब प्राणियों के हित करने में तत्पर होकर उपासना करते हैं वह निर्गुणोपासक भक्त सच्चिदानन्दघन मुक्त भगवान् को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार के मोक्ष काम भक्ति के साधन होते हैं।

कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षुः सर्व देहिनाम् ।
सत्यसारोऽनवद्यात्मा समः सर्वोपकारकः ॥
कामैरहतधीर्दान्तो मृदुः शुचिरकिंचनः ।
अनीहो मितभुक् शान्तः स्थिरो मच्छरणो मुनिः ॥
अप्रमत्तो गभीरात्मा धृतिमान्जितषड्गुणः ।
अमानी मानदः कल्पो मैत्रः कारुणिकः कविः ॥
(भाग० ११।११।२६,३०,३१)

दयालु होना, किसी प्राणी के ऊपर द्रोह नहीं करना, क्षमा शील होना, सत्य का ही आश्रय करना, असूया ईर्ष्या आदि न करना, यथाशक्ति सबका उपकार करना, विषयों में चित्त को आसक्त नहीं रखना, जितेन्द्रिय होना, सरल चित्त होना, सदाचार का पालन करना, धन सग्रह नहीं करना, विषयों की अभिलाषा न करना, थोडा भोजन करना, चित्तको निश्चल रखना अपने धर्म में स्थिर रहना, भगवान् की भक्ति करना, भगवान् का मनन करना, सावधान रहना, निर्विकार होना, विपत् उपस्थित होने पर भी दीन न होना, क्षुधा पिपासा, शोक मोह जरा मृत्यु इन छः गुणों को जीतना, स्वयं सम्मान की आकांक्षा न करना, दूसरों का सम्मान करना, दूसरों के समझाने में दक्ष होना, वचक

नहीं होना, दया से ही किसी कार्य मे प्रवृत्त होना किसी लोभ से नहीं, सम्यक् ज्ञान रखना ये सब मोक्ष काम भक्ति के साधन हैं और साधु के भी यही लक्षण हैं।

भगवत्सान्निध्य भक्ति के साधन ।

भगवान् के समीप निवास करने के लिये भगवान्के शरणागत होना, उन पर ही अटल विश्वास रखना, श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद-सेवन अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य, आत्म निवेदन रूप नवधा भक्ति के द्वारा भगवान् को प्रसन्न करना, भगवान् के प्रत्येक विधान में आनन्दित रहना, भगवान् का ऐश्वर्य समझकर किसी प्राणी में भी घृणा नहीं करना, हानि लाभ, सुख दुःख आदि द्वन्द पदार्थों के उपस्थित होने पर भी भगवान् में विश्वास एव अटूट श्रद्धा रखना और प्रारब्ध का भोग समझकर उन द्वन्द्व पदार्थों को भोगना, भगवान् के भक्तों का सग करना, विषय भोगों से रहित होना ये सब भगवत् सान्निध्य भक्ति के साधन हैं। जैसे—

आज्ञायैवं गुणान्दोषान्मयादिष्टानपि स्वकान् ।
धर्मान्सन्त्यज्य यः सर्वान्मां भजेत स उत्तमः ॥
(भाग० ११।११।३२)

शास्त्रोक्त गुण और दोष इन दोनों को जानकर के भी वेद रूप से मेरे द्वारा कथित अपने वर्णाश्रम धर्म को छोड़कर अर्थात् केवल भक्ति ही पर श्रद्धा रखकर जो मेरी आराधना करते हैं वे श्रेष्ठ साधु हैं। अत ऐसी भक्ति सान्निध्य प्राप्ति का साधन है।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न सशयः ॥
(गीता० १२।८)

हे अर्जुन ! तू मेरे में मन को लगा, मेरे मे बुद्धि को लगा इससे तू मेरे मे ही निवास करेगा अर्थात् मेरे को ही प्राप्त होगा इसमें कुछ भी सशय नहीं है ।

अथ चित्त समाधातु न शक्नोपि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तु धनञ्जय ॥
(गीता० १२।९)

हे अर्जुन ! यदि तुम अपने मन को एकाग्र भाव से मुझ भगवान् में लगा देने में असमर्थ हो तो अभ्यास रूप योग के द्वारा मुझे प्राप्त करने की इच्छा करो अर्थात् भगवान् में मन को एकाग्र रखने का अभ्यास करो ।

अभ्यासेऽप्य समर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमनाप्स्यसि ॥
(गीता० १२।१०)

यदि तुम अभ्यास करने में भी असमर्थ हो तो भगवान् के कर्म करने में तत्पर रहो क्योंकि मुझे प्रसन्न करने के लिये कर्म करते हुए भगवान् की प्राप्ति रूप सिद्धि प्राप्त हो जायगी ।

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्याग तत कुरु यतात्मवान् ॥
(गीता० १२।११)

और यदि बाह्य विषय धन, स्त्री, पुत्र आदि से चित्त आकृष्ट होने के कारण भगवत्सम्बन्धी कर्म करने में भी यदि असमर्थ हो तो भगवान् में सारे कर्मों को समर्पण करके जितेन्द्रिय और विवेकी होकर सारे कर्मों के फल का त्याग करो।

यस्या न मे पावनमग कर्म स्थित्युद्भवप्राणनिरोधमस्य ।
लीलावतारेप्सितजन्म वा स्याद्वन्ध्या गिर ता विभृयान्नधीर.॥
(भाग० ११।११।२०)

जिस वाणी में ससार को पवित्र करने वाला भगवान् का चरित्र नहीं है और जिसमें ससार की उत्पत्ति, पालन, सहार से सम्पन्न मेरा कर्म नहीं कहा गया है, लीलाकृत अवतारों का, जगत् प्रिय राम–कृष्ण का जन्म नहीं कहा गया है वह वाणी निष्फल है, उसे बुद्धिमान को छोड देना चाहिये।

श्रद्धामृतकथाया मे शश्वन्मदनुकीर्त्तनम् ।
परिनिष्ठा च पूजायां स्तुतिभिः स्तवनं मम ॥
(भाग० ११।१९।२०)

अमृत के समान भगवान् की मधुर कथा में श्रद्धा, सदैव भगवान् का कीर्त्तन करना, भगवान् की पूजा में पूर्ण निष्ठा, स्तुतियों के द्वारा स्तुति करना ये सब सान्निध्य काम भक्ति के साधन हैं।

आदरः परिचर्यायां सर्वांगैरभिनन्दनम् ।
मद्भक्तपूजाभ्यधिका सर्वभूतेषु मन्मतिः ॥
(भाग० ११।१९।२१)

आदर सहित मुझ भगवान् की सेवा, दण्ड प्रणाम, भगवान् के भक्तों की विशेष रूप से पूजा करना, सब प्राणियों में भगवान् को देखना ये सब सान्निध्य भक्ति के साधन हैं।

मदर्थेष्वंगचेष्टा च वचसा मद्गुणेरणम्।
मय्यर्पणं च मनसः सर्वकामविवर्जनम् ॥
(भाग० ११।१९।२२)

मुझ भगवान्के लिये शरीरसे कार्य करना, वाणी से भगवान् के गुणा का कीर्तन करना, सारी कामनाका त्याग करके भगवान् में मन को समर्पण कर देना।

मदर्थेऽर्थपरित्यागो भोगस्य च सुखस्य च।
इष्टं दत्तं हुतं जप्तं मदर्थं यद्व्रतं तपः॥
(भाग० ११।१९।२३)

भगवान् के भजन करने के लिये भजन के विरोधी कार्य का परित्याग करना, भोग और सुख का भी परित्याग करना, भगवान् की प्रसन्नता के लिये यज्ञ, दान, होम, जप, तप और व्रत करना चाहिये।

एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदनम्।
मयि सञ्जायते भक्तिः कोऽन्योऽर्थोऽस्माद्विशिष्यते॥
(भाग० ११।१९।२४)

हे उद्धव! इस प्रकार के धर्माचरणों के द्वारा मनुष्यों को भगवान् में आत्म समर्पण कर देना चाहिये, क्योंकि ऐसा

करने से मनुष्य मे भगवान् की भक्ति उत्पन्न हो जाती है इससे बढकर दूसरा प्रयोजन मनुष्य का क्या हो सकता है।

यम।

अहिंसा सत्यमस्तेयमसगो ह्रीरसचय.।
आस्तिक्य ब्रह्मचर्य च मौन स्थैर्य क्षमाभयम्॥
(भाग० ११।१९।३३)

अहिंसा, सत्य, चोरी नही करना, धन पुत्र आदि मे आसक्त न होना, बुरे कर्मों मे लज्जा रखना, धन का सचय न करना, आस्तिकता, ब्रह्मचर्य वृथा वार्तालाप न करना, धैर्य, क्षमा और पाप से भय, ये बारह प्रकार के यम हैं, निर्गुण और सगुण दोनों उपासकों को इनका पालन करना आवश्यक हैं।

नियम।

शौंच जपस्तपो होम श्रद्धातिथ्य मदर्चनम्।
तीर्थाटन परार्थेहा तुष्टिराचार्यसेवनम्॥
(भाग० ११।१९।३४)

पवित्रता, जप, वर्णाश्रम धर्म सेवन, होम, श्रद्धा, अतिथि सत्कार, भगवान् का पूजन, तीर्थ पर्यटन, परोपकार करने की अभिलाषा, सन्तोष और गुरु की सेवा ये बारह नियम हैं। यथोचित रूप से इनका पालन करना सबके लिये आवश्यक है। भगवत्सान्निध्य भक्ति के तो ये यम और नियम अत्यन्त आवश्यक साधन हैं।

" तत्तु विषयत्यागात्संग त्यागाच्च ॥ "

(नारद सूत्र ३५)

वह भक्ति रूप फल धन, पुत्र आदि विषयों के और संगवि के परित्याग करने से अर्थात् एकान्त स्थान में चित्त को स्थिर करने से प्राप्त होता है।

" अव्यावृत भजनात् ॥ "

(नारद सूत्र ३६)

निरन्तर भजन करने से वह भक्ति रूप फल प्राप्त होता है।

" लोकेऽपि भगवद्‌गुण श्रवण कीर्त्तनात् ॥ "

(नारद सूत्र ३७)

लोक में भगवान् के गुणों का श्रवण करने और कीर्तन करने से भगवद्भक्ति प्राप्त होती है।

" मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद्वा ॥ "

(नारद सूत्र ३८)

मुख्यत. महान् जन की कृपा से या भगवान् की कृपा-लेश से भी भक्ति प्राप्त होती है।

" स्त्री धन नास्तिक चरित्रं न श्रवणीयम् ॥ "

(नारद सूत्र ६३)

स्त्री, धन और नास्तिक इनके चरित्रों को न सुने, इनके चरित्रों के सुनने से चित्त में विक्षेप उत्पन्न होता है।

" अभिमान दम्भादिकं त्याज्यम् ॥ "

(नारद सूत्र ६४)

अहंकार और दम्भ आदि का त्याग कर देना चाहिये।

"अहिंसा सत्य शौच दयास्तिक्यादि चरित्राणि परिपालनीयानि ॥"

(नारद सूत्र ७८)

अहिंसा सत्य, पवित्रता, आस्तिक भाव इत्यादि जो पुण्य-प्रद आचरण हैं उनका पालन करना चाहिये।

" सर्वदा सर्वभावेन निश्चिन्तितैर्भगवानेव भजनीयः ॥"

(नारद सूत्र ७९)

निश्चिन्त होकर सदैव सर्वात्मना अर्थात् शरीर वाणी मन से भगवान् का ही भजन करना चाहिये।

मल्लिंगमद्भक्तजन दर्शनस्पर्शनार्चनम् ।
परिचर्या स्तुतिः प्रह्वगुणकर्मानुकीर्तनम् ॥

(भाग० ११।११।३४)

मत्कथाश्रवणे श्रद्धा मदनुध्यानमुद्धव ।
सर्वलाभोपहरणं दास्येनात्मनिवेदनम् ॥

(भाग० ११।११।३५)

मज्जन्मकर्मकथनं मम पर्वानुमोदनम् ।
गीतताण्डववादित्रगोष्ठीभिर्मद्गृहोत्सवः ॥

(भाग०. ११।११।३६)

हे उद्धव ! प्रतिमा आदि मेरे चिह्नों और मेरे भक्तों के दर्शन, स्पर्श, पूजन, परिचर्या, स्तुति और मनोहर गुण कर्मों के कीर्तन में तत्पर रहना चाहिये। मेरी कथा सुनने में श्रद्धा,

मेरा ध्यान करना जो कुछ मिले मुझे अर्पण करना और दास्य-भाव से आत्म-समर्पण कर देना चाहिये। मेरे जन्मों और कर्मों को कहना, मेरे पर्व के दिन में उत्सव करना, गाने नाचने, बजाने और भक्तजनों की गोष्ठी के द्वारा मेरे मन्दिर का उत्सव करना चाहिये।

अमानित्वमदम्भित्वं कृतस्यापरिकीर्तनम्।
अपि दीपावलोकं मे नोपयुञ्ज्यान्निवेदितुम्॥
(भाग० ११।११।४०)

अभिमान और दम्भ का परित्याग करना, किये हुए धर्म कर्मों को किसी के आगे नहीं कहना तथा मुझे अर्पण किये दीपक को भी अपने व्यवहार में नहीं लाना चाहिये।

सूर्योऽग्निर्ब्राह्मणो गावो वैष्णवः खं मरुज्जलम्।
भूरात्मा सर्वभूतानि भद्र पूजापदानि मे॥
(भाग० ११।११।४२)

हे भद्र! सूर्य, अग्नि, ब्राह्मण, गाय, वैष्णव, अपना हृदय रूप आकाश, वायु, जल, पृथ्वी आत्मा और सब प्राणियों में मेरी पूजा इस प्रकार करनी चाहिये। जैसे—

सूर्ये तु विद्यया त्रय्या हविषाग्नौ यजेतमाम्।
आतिथ्येन तु विप्राग्र्ये गोष्वंग यवसादिना॥
(भाग० ११।११।४३)

वैष्णवे बन्धुसत्कृत्या हृदि खे ध्याननिष्ठया।
वायौ मुख्यधिया तोये द्रव्यैस्तोयपुरस्कृतैः॥

स्थण्डिले मन्त्रहृदयैर्भोगैरात्मानमात्मनि ।
क्षेत्रज्ञं सर्वभूतेषु समत्वेन यजेत माम् ॥
धिष्ण्येष्वेष्विति मद्रूपं शंख चक्र गदाम्बुजैः ।
युक्तं चतुर्भुजं शान्तं ध्यायन्नर्चेत्समाहितः ॥
(भाग० ११।११।४४,४५,४६)

वेदन विद्या के द्वारा सूर्य में, घृत आदि हवन के द्वारा अग्नि में, अतिथि सत्कार के द्वारा ब्राह्मण में, तृण जल के द्वारा गाय में, हे उद्धव ! भगवान् की पूजा करनी चाहिये। अपने बन्धु की तरह सम्मान के द्वारा वैष्णव में, ध्यान के द्वारा हृदयाकाश में, प्राण बुद्धि के द्वारा वायु में, जल से तर्पण आदि के द्वारा जल में, गोपनीय मन्त्रन्यास के द्वारा पृथ्वी में, अनेक भोगों के द्वारा आत्मा में और सम दृष्टि के द्वारा सब प्राणियों में मुझ क्षेत्रज्ञ रूप परमेश्वर की पूजा करनी चाहिये। एकाग्र चित्त होकर शंख चक्र गदा पद्मधारी शांत चतुर्भुज मूर्ती का ध्यान करते हुए इन पूर्वोक्त स्थानों में श्रद्धापूर्वक मेरी पूजा करना उचित है।

जातश्रद्धो मत्कथासु निर्विण्णः सर्वकर्मसु ।
वेद दुःखात्मकान्सर्वान्परित्यागेऽप्यनीश्वरः ॥
ततो भजेत मां प्रीतः श्रद्धालुर्दृढनिश्चयः ।
जुषमाणश्च तान्कामान्दुःखोदर्कांश्च गर्हयन् ॥
(भाग० ११।२०।२७,२८)

भगवान् की कथा में जिसको श्रद्धा उत्पन्न हो गयी है और सब कर्मों में वैराग्य होगया है वह सब भोगों को दुःखदायक

जानता है किन्तु उन्हें छोडने में असमर्थ हो तो सब कर्मोका भोग करता हुआ भी और उनको दुःखदायक जानकर उन कर्मों की निन्दा करता हुआ दृढ निश्चय और श्रद्धा से पूर्ण होकर प्रसन्न चित्त से मेरा भजन करे।

स्वाश्रमधर्माचरणं कृष्ण प्रतिमार्चनोत्सवो नित्यम्।
विविधोपचारकरणैर्हरिदासैः सगमः शश्वत्॥
कृष्णकथासश्रवणे महोत्सवः सत्यवादश्च ।
परयुवतौ द्रविणे वा परापवादे पराङ्मुखता॥
ग्राम्यकथास्‍द्वेग सुतीर्थगमनेषु तात्पर्यम्।
यदुपतिकथावियोगे व्यर्थं गतमायुरिति चिन्ता॥
(प्रबोध सुधाकर १७२,१७३ १७४)

अपने वर्णाश्रम धर्मोका आचरण करना, नित्य अनेक प्रकार की सामग्रियों से श्रीकृष्ण भगवान् की प्रतिमा के पूजनका उत्सव करना और निरतर हरि भक्तों का संग करना चाहिये। भगवत कथा के श्रवण करने में अत्यन्त उत्साह रखना, सत्य भाषण करना, परस्त्री परधन से दूर रहना, दूसरों की निन्दा नहीं करना अश्लील कथा से घृणा करना पुण्य तीर्थों में जाना और श्रीभगवान की कथा के बिना ही यह आयु व्यर्थ बीत गयी ऐसी चिन्ता करनी चाहिये।

एव कुर्वति भक्तिं कृष्णकथानुग्रहोत्पन्ना ।
समुदेति सूक्ष्मभक्तिर्यस्या हरिरन्तराविशति॥
(प्रबोध सुधाकर १७५)

इस प्रकार पूर्वोक्त स्थूल भक्ति का अभ्यास करते २ भगवत् कथा के अनुग्रह से सूक्ष्म भक्ति स्वयं उत्पन्न होजाती है जिस भक्ति के प्रभाव से श्रीभगवान् हृदयमें निवास करने लग जाते हैं।

"लघ्वपि भक्ताधिकारे महत्क्षेपकमपरसर्वहानात् ॥"

(शाण्डिल्य सूत्र ७६)

भक्ताधिकार अर्थात् भक्ति के अधिकारी होने पर थोड़ा भी भगवत् स्मरणादि महान् पापों का विनाश कर देता है, इसलिये भक्ति पूर्वक भगवान् की परिचर्या करनी चाहिये।

स्वर्गादि काम भक्तिके साधन।

स्वर्ग आदि कामना करके विष्णु भगवान् की उपासना करना और शास्त्रानुसार यज्ञादि कर्म करना स्वर्गादि काम भक्ति के साधन हैं। जैसे—

अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः।

स्वर्ग को चाहने वाला व्यक्ति अग्निहोत्र नाम के यज्ञको करे।

ऐहिक सकाम भक्ति के साधन।

स्त्री, पुत्र, धन आदि ऐहलौकिक विषयों की कामना करके श्रद्धा पूर्वक, शास्त्रानुसार जो ईश्वर की आराधना करना, ये ऐहिक सकाम भक्ति के साधन हैं। जैसे—

स च कदाचित्पितृलोककामः सुरवरवनिता क्रीडाचल द्रोण्यां भगवन्तं विश्वसृजां पतिमाभृतपरिचर्योपकरण आत्मैकाग्र्येण तपस्याराधयांबभूव ॥

(भाग० ५।२।२)
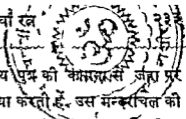
वह राजा आग्नीध्र एक समय पुत्र की कामना से जहाँ पर अप्सरायें सब समय विहार किया करती हैं, उस मन्दराचल की कन्दरा में गये और वहा पूजा की सामग्री एकत्र कर एकाग्र चित्त होकर प्रजापतियों के पति भगवान् की घोर तप से आराधना करने लगे।

आर्त्त भक्ति के साधन।

किसी उपस्थित दुःखों की निवृत्ति के लिये ईश्वर में पूर्ण विश्वास और श्रद्धा रखकर जो ईश्वर की आराधना करना है उसे आर्त्त भक्ति का साधन कहते हैं। जैसे—

"स्मृति कीर्त्यो· कथादेश्चार्त्तो प्रायश्चित्त भावात् ॥"

(शाण्डिल्यसूत्र ७४)

परम पीडा युक्त भक्तों के द्वारा भगवान् की कथा आदिका स्मरण करना या कीर्तन करना ही उनके पापों को नाश करने तथा सारी पीड़ा निवारण करने के लिये प्रायश्चित्त होता है।

अनन्य भक्ति का फल।

अनन्य भक्ति की पराकाष्ठा होजाने से यह समस्त ब्रह्माड कीट पतग से लेकर ब्रह्मलोक पर्यन्त, जो कुछ भी देखा जाता है, जो कुछ सुना जाता है, जो कुछ कहा जाता है और जो कुछ अनुभव किया जाता है, सब जहा तक विश्व निर्माण है, जागने पर स्वप्न में अनुभूत समस्त पदार्थ की तरह सबके सब विनष्ट होजाते हैं। फिर कभी अनन्य भक्त को यह जगत् भविष्य में दृष्टि गोचर नहीं होता है। बाह्य आन्तर एक भी विषय वास्तव रूप में

नहीं रहता है। गन्धर्वनगर और इन्द्रजाल की तरह यह जगत प्रतीति मात्र रहता है। समस्त उपाधि से रहित, एक, अद्वितीय, अनन्त आनन्द, चैतन्य रूप ब्रह्म मात्र रह जाता है और उस ब्रह्म से उस भक्त का वास्तव अभेद होजाता है। उस भक्त के शरीर और उसके द्वारा व्यवहार प्रारब्ध कर्म की समाप्ति पर्यन्त अनिवार्य रूप से रहते हैं। भोग के द्वारा प्रारब्ध कर्म का विनाश होते ही उसके देह, इन्द्रिय प्राण, मन, बुद्धि अपने अपने कारण में लीन होजाने से विदेह कैवल्य अर्थात् परमानन्द रूप ब्रह्म भाव प्राप्त होजाता है यही अनन्य भक्ति की पराकाष्ठा का फल है। जैसे—

"यो विविक्त स्थानं सेवेत यो लोकसम्बन्धमुन्मीलयति निस्त्रैगुण्यो भवति यो योगक्षेमं त्यजति ॥"

(नारद सूत्र ४७)

जो पुरुष एकान्त स्थान में रहता है, जो लोक बन्धन को नष्ट करता है और जो योग–क्षेम अर्थात् प्राप्त वस्तु की रक्षा और अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति के साधन को त्याग देता है वह पुरुष निस्त्रैगुण्य होता है अर्थात् सत्त्व, रज और तम इन त्रिगुणात्मक विश्व निर्माण से सदैव के लिये मुक्त होजाता है।

"कर्मफलं त्यजति कर्माणि संन्यसति ततो निर्द्वन्द्वो भवति ॥"

(नारद सूत्र ४८)

जो पुरुष कर्मों के फल का त्याग कर देता है तथा जो कर्मों का भी त्याग कर देता है, फिर वह राग द्वेष सुख दुःख आदि

द्वन्द्व पदार्थों से रहित होजाता है। वह कभी इस दुःखमय संसार सागर में नहीं आता है। जैसे श्रुतियों में कहा है—

न स पुनरावर्त्तते न स पुनरावर्त्तते ।

प्रारब्ध के फल स्वरूप इस वर्त्तमान शरीर के विनाश होते ही ज्ञानी पुरुष विदेहमुक्त होजाता है, जिससे पुनः वह कभी संसार सागर में नहीं आता क्योंकि ब्रह्म को निश्चित रूप से जान लेने से ब्रह्म रूप होजाता है। जैसे कहा है—

ब्रह्मवित् ब्रह्मैव भवति ।

ब्रह्म का साक्षात्कार करने वाला ब्रह्म रूप होजाता है।

" स तरति स तरति सलोकांस्तारयति ।"

(नारद सूत्र ५०)

वह तरता है, वह तरता है और वह लोगों को भी संसार सागर से तारता है।

अभीक्ष्णशस्ते गदितं ज्ञानं विस्पष्टयुक्तिमत् ।
एतद्विज्ञाय मुच्येत पुरुषो नष्ट संशयः ॥
(भाग० ११।२९।२४)

हे उद्धव ! यह ज्ञान विशेष रूप से स्पष्ट युक्तियों के द्वारा मैंने तुमको अनेक बार कह दिया है। यह ज्ञान प्राप्त करके मनुष्य संशय से रहित और मुक्त होजाता है।

सुविविक्त तव प्रश्न मयैतदपि धारयेत् ।
सनातनं ब्रह्म गुह्यं परं ब्रह्माधिगच्छति ॥
(भाग० ११।२९।२५)

तुम्हारे प्रश्न का, समाधान मैंने भली भाति कर दिया है मेरे और तुम्हारे इस सम्वाद को जो कोई मनन पूर्वक पढेगा वह भी वद रहस्य रूप सनातन सत्य परब्रह्म को प्राप्त होगा। प्रेम प्रधान अनन्य भक्ति क द्वारा परमेश्वर की प्राप्ति होजाती है जिससे वह भक्त मदैव क लिये कृत कृत्य हाजाता है। जैसे—

"अनन्य भक्त्या तद्बुद्धिर्बुद्धिलयादत्यन्तम्।"
(शाण्डिल्य सूत्र ९६)

परमेश्वर में अनन्य बुद्धि रूप परा भक्ति होने से केवल परमेश्वर ही सर्वत्र सर्वदा भक्त को दृग्गोचर होने लगते हैं। एक मात्र परमेश्वर विषयक बुद्धि रहती है और वह बुद्धि भी परमेश्वर में जब लीन होजाती है तब अत्यन्त अविनाशी सुख मदैव के लिये भक्त को प्राप्त होजाता है। जैसे—

पुरुष स पर पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
(गीता)

हे अर्जुन! वह परमेश्वर अनन्य भक्तिके द्वारा प्राप्त होते हैं।

मोक्ष काम भक्ति का फल।

मोक्ष काम भक्ति के साधन स्वरूप जो विवेक, वैराग्य, षट् सम्पत्ति और मुमुक्षुता हैं इन चार प्रकार के साधनों से युक्त होकर श्रद्धा पूर्वक, निरन्तर बहुत दिनों तक भगवान् में भक्ति रखने से वेदान्त शास्त्र के श्रवण, मनन, निदिध्यासन करते रहने म भगवान् की कृपा से निदिध्यासन की निर्विघ्न परिपक्व अवस्था प्राप्त करके जिज्ञासु भक्त को ब्रह्म साक्षात्कार होजाता है और

ब्रह्म साक्षात्कार होने से यह द्वैत रूप सारा प्रपच मिथ्या रूप से भासित होने लगता है। सर्वत्र एक, अद्वितीय, सच्चिदानन्द, परिपूर्ण ब्रह्म है और वही परिपूर्ण व्यापक ब्रह्म मैं हूँ ऐसा निश्चयात्मक दृढ बोध होने से वह जीवन्मुक्त अवस्था को प्राप्त करता है और जीवन्मुक्त अवस्था में ही प्रारब्ध भोग कर लेने से प्रारब्ध कृत शरीर के नाश होते ही जो विदेह कैवल्य रूप चैतन्यात्मक निरन्तर सुख स्वरूप मोक्ष को प्राप्त करना है वही मोक्ष काम भक्ति की पराकाष्ठा का फल है। जैसे—

यदिस्म पश्यत्यसदिन्द्रियार्थं नानानुमानेन निरुद्धमन्यत्।
न मन्यते वस्तुतया मनीषी स्वाप्नं यथोत्थाय तिरोदधानम्॥

(भाग० ११।२८।३२)

विवेकी व्यक्ति, यद्यपि बहिर्मुख इन्द्रियों के विषयों को अर्थात् सासारिक विषयों को देखता है, तथापि अनुमान के विरुद्ध आत्मा से भिन्न अन्य पदार्थों को सत् नहीं मानता जैसे निन्द्रित व्यक्ति जागने पर विलीयमान स्वप्न दृष्ट वस्तु को असत् जानता है।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

(भ० गी० १०।१०)

उन समस्त बाह्य तृष्णाओं से रहित प्रीति पूर्वक निरन्तर तत्पर होकर भगवान् के भजन करने वालों को मैं ऐसा ज्ञान देता हूँ जिस ज्ञान से वे आत्म रूप परमेश्वर को प्राप्त कर लेते हैं।

तेषामेवानुकम्पार्थं महमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञान दीपेन भास्वता ॥
(भ० गी० १०।११)

उन भक्तों के कल्याण करने के लिये ही मैं उनके अन्तःकरण मे स्थित होकर अविवेक से उत्पन्न उनके मोहमय अन्धकार को विवेक बुद्धि रूप प्रकाशमय ज्ञान दीपक के द्वारा नष्ट कर देता हूँ।

भगवत्सान्निध्य काम भक्ति का फल।

भगवान् की नवधा भक्ति की परिपक्व अवस्था होने से और श्रद्धा पूर्वक भगवान् में जो निरन्तर प्रेम है उसके प्रेम के द्वारा भगवान के सान्निध्य प्राप्ति के लिये सदैव चिन्तन करने से सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सार्ष्टि (सायुज्य) इन चार प्रकार की मुक्ति प्राप्त होना भगवत्सान्निध्य काम भक्ति का फल है। जैसे—

कण्ठावरोध रोमांचाश्रुभिः परस्परं लयमानाः पावयन्ति कुलानि पृथिवीं च ॥

जो व्यक्ति भगवत्प्रेम से गद्‌गद कण्ठ होकर रोमाञ्च और आनन्द के आंसू के द्वारा परस्पर भगवान् की कथा कह कर उसमें लीन रहते हैं वे अपने कुलों का उद्धार करते हैं और पृथिवी को पवित्र करते हैं।

तीर्थी कुर्वन्ति तीर्थानि सुकर्मी कुर्वन्ति कर्माणि सच्छा-
स्त्री कुर्वन्ति शास्त्राणि ॥

वह तीर्थों को भी पवित्र करते हैं, कर्मों को भी पवित्र करते हैं और शास्त्रों को सुशास्त्र करते हैं।

भक्त्यावेश्य मनोयस्मिन्वाचा यन्नाम कीर्त्तयन् ।
त्यजन्कलेवरं योगी मुच्यते काम कर्मभिः ॥

(भाग० ३।९।२३)

योगी लोग भगवान् के नाम का कीर्तन करते हुए भक्ति पूर्वक भगवान् में मन लगाकर शरीर को छोड़ देते हैं और कर्म वासना से मुक्त होजाते हैं।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥

(भ० गी० ९।२९)

यद्यपि मैं सब प्राणियों में समान रूप से व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है और न कोई प्रिय है तथापि जो भक्त मेरा प्रेम से भजन करते हैं वे मुझमें और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रगट रहता हूँ अर्थात् भक्त जन मुझे बहुत ही प्रिय हैं और उन्हें मैं भी बहुत प्रिय हूँ। भगवान्के भजनसे जो चार प्रकारकी मुक्ति प्राप्ति होती है, प्रसंग आजाने से उनका यहां निरूपण करते हैं।

सालोक्य मुक्ति ।

एक राजा के साथ राज के देश में रहते हुए प्रजा का जैसा सम्बन्ध होता है उसी प्रकार भगवान् के वैकुण्ठपुर में निवास करते हुए भगवान् के साथ जो भक्त का सम्बन्ध रहता है उसे सालोक्य मुक्ति है।

सामीप्य मुक्ति ।

सालोक्य मुक्ति से ऊपर श्रेणी की जो मुक्ति है उसे सामीप्य मुक्ति कहते हैं। एक राजा के साथ उसके उच्च कर्मचारी का जैसा सम्बन्ध रहता है उसी प्रकार वैकुण्ठलोक में जाकर भगवान् के प्रधान सेवक बने हुए भक्त का जो भगवान् के समीप निवास करना है वह सामीप्य मुक्ति है।

सारूप्य मुक्ति ।

सामीप्य मुक्ति से ऊपर की श्रेणीकी जो मुक्ति है, उसे सारूप्य मुक्ति कहते हैं। एक राजा का अपने छोटे भाई के साथ जैसा प्रेममय मधुर सम्बन्ध रहता है उसी प्रकार भगवान् के समीप वैकुण्ठपुर में निवास करते हुए भगवान् के समान रूप की जो प्राप्ति है वह सारूप्य मुक्ति है।

सार्ष्टि मुक्ति ।

सारूप्य मुक्ति से ऊपर श्रेणी की पूर्वोक्त चार प्रकार की मुक्तियों में सर्व श्रेष्ठ जो मुक्ति है उसे सार्ष्टि अथवा सायुज्य मुक्ति कहते हैं। एक राजाका अपने बडे पुत्रके साथ प्रत्येक कार्यमें

परामर्श आदि के द्वारा जैसा गम्भीर प्रेममय व्यवहार रहता है उसी प्रकार वैकुण्ठपुर में निवास करते हुए भक्त के साथ भगवान् का जो गम्भीर प्रेममय व्यवहार है वह सार्ष्टि अथवा सायुज्य मुक्ति है।

भक्त की श्रद्धा और प्रेम के अनुसार क्रमशः सालोक्य आदि मुक्ति प्राप्त होती है। सालोक्यादि मुक्ति प्राप्त होने से अभ्यास के द्वारा भक्ति में दृढ स्थिति होने से वैकुण्ठ निवासी जीव का अन्तःकरण अत्यन्त निर्मल और निश्चल होजाता है और उसके बाद ब्रह्म साक्षात्कार होकर उसे विदेह कैवल्य ज्ञानी की तरह प्राप्त होजाता है।

स्वर्गादि काम भक्ति का फल।

स्वर्ग आदि प्राप्त करने के लिये श्रद्धा पूर्वक भगवान् में प्रेम रखते हुए भक्त को यज्ञादि के द्वारा जो स्वर्ग आदि लोकों की प्राप्ति है वह स्वर्गादि काम भक्ति का फल है। जैसे—

यो यो या या तनु भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥
(भ० गी० ७।२१)

जो भक्त जिस देवता के स्वरूप को श्रद्धा से पूजना चाहता है मैं उसी देवता के प्रति उस भक्त की श्रद्धा को अचल कर देता हूँ।

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥
(भ० गी० ७।२२)

उस देवता की श्रद्धा से युक्त होकर वह उसी देवता की आराधना करने की अभिलाषा करता है और वह भक्त उसी देवता के द्वारा मुझसे दिये गये अपने अभिलषित कामनाओं को प्राप्त करता है।

ऐहिक सकाम भक्ति का फल ।

स्त्री, पुत्र, धन आदि ऐहलौकिक विषय को प्राप्त करने के लिये ईश्वर में श्रद्धा पूर्वक भक्ति करने से भक्त को अपने अभिलषित स्त्री, पुत्र, धन आदि ऐहलौकिक विषयों की प्राप्ति होती है वह ऐहिक सकाम भक्ति का फल है।

विदित्वा तव चैत्यं मे पुरैव समयोजि तत् ।
यदर्थमात्मनियमैस्त्वयैवाहं समर्चितः ॥
न वै जातु मृषैव स्यात्प्रजाध्यक्ष मदर्हणम् ।
भवद्विधेष्वतितरां मयि संगृभितात्मनाम् ॥
प्रजापतिसुत सम्राट् मनुर्विख्यात मंगलः ।
ब्रह्मावर्त्तं योऽधिवसन् शास्ति सप्तार्णवां महीम् ॥

स चेह विप्र राजर्षिर्महिष्या शतरूपया ।
आयास्यति दिदृक्षुस्त्वा परश्वो धर्मकोविद. ॥
आत्मजामसितापागीं वय शीलगुणान्विताम् ।
मृगयन्तीं पतिं दास्यत्यनुरूपाय ते प्रभो ॥
(भाग० ३।२१।२३-२७)

(श्रीभगवान् का कथन है) हे मुनिवर ! तुमने जिस लिये आत्म नियमन के द्वारा मेरी आराधना की है, तुम्हारे चित्त को उस बात को जानकर उसका सयोग मैंने प्रथम ही कर रखा है। हे प्रजापति ! अनन्य मन से की गयी मेरी उपासना कभी विफल नहीं होती है, फिर तुम्हारे जैसे जितेन्द्रिय व्यक्ति के द्वारा की गयी उपासना तो कभी विफल हो ही नहीं सकती। प्रजापति के पुत्र सम्राट्, स्वायभुव मनु जो सदाचार आदि गुणों से प्रख्यात हैं और ब्रह्मावर्त्त देश में रहकर सातों समुद्र से युक्त पृथ्वी मण्डल का शासन करते हैं। हे विप्र ! वह धर्मज्ञ राजर्षि शतरूपा नाम की अपनी रानी को साथ लेकर परसों तुम्हें देखने आवेंगे। वह राजर्षि सुशीला एव विवाह के योग्य अवस्था से सम्पन्न गुणवती अपनी अत्यन्त सुन्दरी कन्या को, जो पति का ढूढ रही है, उनके योग्य होने के कारण तुम्हें दे देंगे अर्थात् तुम्हारे साथ उसका विवाह करा देंगे।

आर्त्त भक्ति का फल ।

आध्यात्मिक आधिदैविक और आधिभौतिक इन तीन प्रकार के सासारिक तापों में से किसी एक ताप से या अनेक तापों से

पीडित होने से उन तापों की निवृत्ति के लिये मनुष्य के द्वारा प्रेम पूर्वक की गयी भगवान् की उपासना से जो उन तापों की निवृत्ति होती है वही आर्त्त भक्ति का फल है।

यथा हृषीकेश खलेन देवकी कंसेन रुद्धातिचिरशुचार्पिता।
विमोचिताहं च सहात्मजा विभो त्वयैव नाथेन मुहुर्विपद्गणात्॥
(भाग० १।८।२३)

कुन्ती का कथन है कि हे भगवन्! दुष्ट, कंस के द्वारा बन्दी की हुई और अत्यन्त शोक में पड़ी हुई देवकी की-आपने जिस प्रकार रक्षा की, हे प्रभो! उसी प्रकार बार बार पुत्रों के साथ मुझे आप नाथ ने ही विपत्तियों से बचाया है।

* इति एकादश रत्न *

मन को सर्वथा एकाग्र करके निरन्तर दीर्घ काल तक श्रद्धा पूर्वक अपने इष्टदेव के ध्यान करने को उपासना कहते हैं। उपासना दो प्रकार की होती है। १-सगुण उपासना और २-निर्गुण उपासना।

सगुण उपासना।

कार्य ब्रह्म की उपासना को सगुण उपासना कहते हैं। माया विशिष्ट चेतन को कार्य ब्रह्म कहते हैं। हिरण्यगर्भ, ईश्वर, *राम-कृष्ण आदि अवतारोंको भी कार्य ब्रह्म कहते हैं। राम-कृष्ण* आदि अवतारों के स्थूल शरीर रहने के कारण प्रत्येक अंग की साकार उपासना साधारण बुद्धि वाले मनुष्यके द्वारा भी सरलता से की जा सकती है और प्रायः इसी उपासना के द्वारा भगवद्भक्त माया से मुक्त होकर ज्ञानी भक्त हो जाते हैं और मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। सगुण तथा निर्गुण दोनो उपासनाएँ दो दो प्रकारकी होती हैं। १-प्रतीक रूप उपासना और २-ध्येयानुसार उपासना।

प्रतीक रूप उपासना।

अन्य वस्तु में अन्य बुद्धि करके जो उपासना की जाती है उसे प्रतीक रूप उपासना कहते हैं। जैसे—शालिग्राम गंडकी नदी के प्रस्तर में जो विष्णु भगवान् की बुद्धि करके और नर्मदा नदी के प्रस्तर में शंकर की बुद्धि करके और भी काष्ठ, पाषाण, *मृत्तिका आदि की मूर्त्ति में आवाहन के द्वारा अपने उपास्य देव* की बुद्धि करके जो उपासना की जाती है वह प्रतीक रूप उपासना है। वह उपासना अनेक प्रकार की होती है।

ध्येयानुसार उपासना ।

अपने उपास्य जो देव हैं उनके यथार्थ स्वरूप का जो चिन्तन करना है उसे ध्येयानुसार उपासना कहते हैं । जैसे—शास्त्र निर्णीत सगुण ईश्वर के स्वरूप का जो ध्यान करना है और निर्गुण ब्रह्म की 'अहं ब्रह्मास्मि' रूप से जो उपासना है वह ध्येयानुसार उपासना है ।

सगुण उपासना के स्वरूप और क्रम ।

भागवतके तृतीय स्कन्ध के २८ वें अध्यायमें, सगुण भगवान् के प्रत्येक अंग की उपासना के स्वरूप और क्रम दिखाये गये हैं। जैसे—

यदा मनः स्वं विरजं योगेन सुसमाहितम् ।
काष्ठां भगवतो ध्यायेत्स्वनासाग्रावलोकनः ॥
(भाग० ३।२८।१२)

जब अपना मन निर्मल और योग के द्वारा एकाग्र हो तब नासिका के अग्र भाग में दृष्टि को स्थिर करके श्री भगवान् की सुन्दर मूर्त्ति का इस प्रकार ध्यान करे।

प्रसन्नवदनाम्भोजं पद्मगर्भारुणेक्षणम् ।
नीलोत्पलदल श्यामं शंखचक्रगदाधरम् ॥
(भाग० ३।२८।१३)

भगवान् का मुख कमल प्रसन्न है। कमल पुष्प के भीतर की जो लालिमा है उसके समान दोनों नेत्र रक्त वर्ण हैं। नील कमल के तुल्य श्यामवर्णशरीर है। शंख चक्र और गदा धारण कियेहुए हैं।

लसत्पंकजकिंजल्कपीतकौशेयवाससम् ।
श्रीवत्सवक्षमं भ्राजत्कौस्तुभामुक्तकन्धरम् ॥

(भाग० ३।२८।१४)

उनका रेशमी पीतपट कमल—किञ्जल्क के समान शोभायमान है। वक्ष स्थल पर श्रीवत्स चिन्ह विराज रहा है और कन्धे पर कौस्तुभ मणि पड़ी हुई है।

मत्तद्विरेफकलया परीतं वनमालया ।
परार्ध्यहारवलयकिरीटांगदनूपुरम् ॥

(भाग० ३।२८।१५)

गले में वनमाला है जिसमें भ्रमर गुञ्जार कर रहे हैं। अगों में यथा योग्य अमूल्य हार, वलय, किरीट-मुकुट, नूपुर आदि आभूषण शोभित हैं।

काञ्चीगुणोल्लसच्छ्रोणिं हृदयाम्भोजविष्टरम् ।
दर्शनीयतमं शान्त मनोनयनवर्द्धनम् ॥

(भाग० ३।२८।१६)

सोने की रस्सी से कमर शोभित हो रही है। भक्तों का हृदय कमल आसन है। भगवान् का रूप शान्त एवं परम दर्शनीय है। उसके देखने से मन और नयन सन्तुष्ट होजाते हैं।

अपीच्यदर्शनं शश्वत्सर्वलोकनमस्कृतम् ।
सन्तं वयसि कैशोरे भृत्यानुग्रहकातरम् ॥

(भाग० ३।२८।१७)

सदैव भगवान् का दर्शन परम सुन्दर है, भगवान् को सब लोग प्रणाम करते हैं, भगवान् की किशोर अवस्था है, अपने जनों के ऊपर अनुग्रह करने के लिये व्यग्र रहते हैं।

कीर्तन्यतीर्थयशस पुण्यलोकयशस्करम् ।
ध्यायेद्देव समग्राग यावन्नच्यवते मन ॥

(भाग० ३।२८।१८)

उनका यश कीर्तन करने योग्य एव तीर्थ के सदृश परम पवित्र है। पुण्य श्लोक (महात्मा) जनों का सुयश बढाने वाले भगवान् के समस्त अगों का तब तक ध्यान करे जब तक उससे मन न हटे अर्थात् जब तक मन लगा रहे तब तक ध्यान करना चाहिये।

स्थितव्रजन्तमासीन शयान वा गुहाशयम् ।
प्रेक्षणीये हित ध्यायेच्छुद्धभावेन चेतसा ॥

(भाग० ३।२८।१९)

शुद्ध भाव से युक्त चित्त के द्वारा खडे हुए, चलते हुए, बैठे हुए, सोते हुए अन्तर्यामी भगवान् का ध्यान न करे, जिनकी लीला दर्शनीय है।

तस्मिल्लब्धपद चित्त सर्वावयव सस्थितम् ।
विलक्ष्यैकत्र सयुज्यादगे भगवतो मुनि ॥

(भाग० ३।२८।२०)

इस प्रकार जब देखे कि भगवान के सब अगों में मन भलीभाति अवस्थित हो चुका है तब भगवान् के एक एक अङ्ग

में अपने मन को साधक स्थिर करे। इस प्रकार समस्त ध्यान कह कर अब एक एक अवयव का ध्यान कहते हैं। जैसे—

संचिन्तयेद्भगवतश्चरणारविन्दं वज्रांकुशध्वज सरोरुह लाञ्छनाढ्यम्। उत्तुङ्गरक्तविलसन्नखचक्रवाल ज्योत्स्नाभिराहत महद्हृदयान्धकारम्॥

(भाग० ३।२८।२१)

सबसे पहले भगवान् के चरणारविन्दों का ध्यान करे जिसमें ऐश्वर्य सूचक वज्र, अंकुश, ध्वजा, कमल आदि रेखा चिह्न हैं। जिन चरणों के अतिशय रक्त वर्ण और मनोहर नख रूप बाल चन्द्रों की चांदनी से भक्तों के हृदय का अज्ञान रूप महान् अन्धकार नष्ट हो जाता है।

यच्छौचनिःसृतसरित्प्रवरोदकेन तीर्थेन मूर्ध्न्यधिकृतेन शिवः शिवोऽभूत्। ध्यातुर्मनः शमलशैलनिसृष्टवज्रं ध्यायेच्चिरं भगवतश्चरणारविन्दम्॥

(भाग० ३।२८।२२)

जिन चरणों के धोवन के जल से निकली हुई नदियों में श्रेष्ठ पतित पावनी गंगा को शिर पर धर कर शिवजी यथार्थ शिव अर्थात् परम कल्याण रूप हो गये, ध्यान करने वालों के पाप रूप पर्वत के विदारण करने में वज्र तुल्य उन चरणों का चिरकाल तक ध्यान करना चाहिये।

जानुद्वय जलजलोचनया जनन्या लक्ष्म्याखिलस्य सुर वन्दितया विधातु. । ऊर्वोर्निधाय करपल्लवरोचिपा यत् सलालित हृदि विभोरभवस्य कुर्यात् ॥

(भाग० ३।२८।२३)

भगवान् के दोनो जानुओं का हृदय में ध्यान करे, विश्व जनक ब्रह्मा की देव वन्दिता माता कमल लोचनी लक्ष्मीजी अपने जघे पर रख कर अपने कर पल्लव से जिन जानुओं का लालन करती रहती हैं।

ऊरू सुपर्ण भुजयोरधिशोभमानावोजोनिधी अतसिका कुसुमावभासौ । व्यालम्बिपीतवरवाससिवर्त्तमानकाचीकलापपरिरम्भि नितम्वविम्नम् ॥

(भाग० ३।२८।२४)

गरुडजी के भुजाओं पर शोभित भगवान् की जघाओं का ध्यान करे, वे उनकी जघाएँ तेज की खान हैं, तीसी पुष्प के समान सुहावने श्याम वर्ण हैं। पैर तक लटके हुए पीत पट के ऊपर स्थित सोने की लटकती हुई रस्सी से सयुक्त उनके नितम्ब का हृदय मे ध्यान करे।

नाभिह्रद भुवनकोशगुहोदरस्थ यत्रात्मयोनिधिषणाखिललोकपद्मम् । व्यूढ हरिन्मणिवृषस्तनयोरमुष्यद्ध्याये द्द्वय विशदहारमयूखगारम् ॥

(भाग० ३।२८।२५)

भगवान् की नाभि रूप सरोवर का ध्यान करे जो नाभि रूप सरोवर चतुर्दश भुवन के अधिष्ठान स्वरूप जो भगवान् का उदर (पेट) है उसमें अवस्थित है और जिस नाभि सरोवर में ब्रह्मा के जन्मदाता समस्त लोकमय कमल उत्पन्न हुआ है। भगवान् के मरकत मणि के सदृश जो दोनों श्याम वर्ण स्तन हैं, श्वेत (सफेद) वर्ण के गले के हार की किरणों से जो स्तन स्वच्छ हो रहे हैं उन स्तनों का ध्यान करे।

वक्षोऽधिवासमृषभस्य महाविभूतेः पुंसां मनोनयन निर्वृति मादधानम्। कण्ठं च कौस्तुभमणेरधिभूषणार्थं कुर्यान्मनस्यखिललोकनमस्कृतस्य॥

(भाग० ३।२८।२६)

भगवान् के वक्षः स्थल का ध्यान करे, जिसमे महा लक्ष्मीजी निवास करती हैं। जिसके दर्शन से मन प्रसन्न होता है और नयन आनन्दित होते हैं। समस्त लोकों से नमस्कृत, महा ऐश्वर्य से सम्पन्न पुरुषोत्तम भगवान् के कण्ठ का मन में ध्यान करे, जो कण्ठ कौस्तुभ मणि को अपनी शोभा से सुशोभित कर रहा है।

बाहूंश्च मन्दरगिरेः परिवर्त्तनेन निर्णिक्तबाहुवलया नधिलोकपालान्। सचिन्तयेद्दशशतारमसह्यतेजः शंख च तत्करसरोरुहराजहंसम्॥

(भाग० ३।२८।२७)

भगवान् की बाहुओं का ध्यान करे, जिनमें समस्त लोकपालों का निवास है। समुद्र मन्थन के समय मन्दराचल की रगड़ से

जिन बाहुओं के मणिमय वलय (कङ्कण) अत्यन्त उज्वल हो गये हैं। सहस्र धार से युक्त और असह्य तेज सम्पन्न सुदर्शन चक्र और भगवान् के कर कमल में स्थित राजहस के सदृश श्वेत शख का ध्यान करे।

कौमोदकीं भगवतो दयिता स्मरेत दिग्धामरातिभट शोणितकर्दमेन । माला मधुव्रतवरूथगिरोपघुष्टा चैत्यस्य तत्त्वममल मणिमस्य कण्ठे ॥

(भाग० ३।२८।२८)

शत्रु पक्ष के वीर गण के रुधिर की कीचड का चन्दन जिसमें लगा हुआ है, भगवान् की प्यारी उस कौमोद नाम की गदा का ध्यान करे। भगवान् के कण्ठ-स्थल में अवस्थित भ्रमर के झुण्डों की गजार से युक्त वनमाला और आत्म-तत्त्वमय निर्मल कौस्तुभ मणि का ध्यान करे।

भृत्यानुकम्पितधियेह गृहीतमूर्ते. सचिन्तयेद्भगवतो वदनारविन्दम् । यद्विस्फुरन्मकरकुण्डलवल्गितेन विद्योतितामलकपोलमुदारनासम् ॥

(भाग० ३।२८।२९)

भक्तों पर अनुग्रह करने की इच्छा से अवतार धारण करने वाले श्रीभगवान् के मुख कमल का ध्यान करे, जिस मुखारबिन्द में जाज्वल्यमान मकराकृत मणिमय कुण्डल की झलक से निर्मल कपोल (गाल) तथा सुन्दर नासा (नाक) सुशोभित हो रही है।

यच्छ्री निकेनमलिभि परिसेव्यमान भूत्यास्वया कुटिल कुन्तलवृन्दजुष्टम् । मीनद्वयाश्रयमधिक्षिपदब्जनेत्र ध्यायेन्मनोमयमतन्द्रित उल्लसद्भ्रु ॥

(भाग० ३।२८।३०)

उस शोभा धाम मुख को भ्रमर गण, कमल समझकर उस पर रमण कर रहे हैं और कुटिल अलकावली उसकी शोभा बढ़ा रही है। जिसमें कमल का निरादर करने वाले दोनों चचल नयन मीन के सदृश सुशोभित हैं और भ्रकुटी मन को हर रही है इस प्रकार मन में कल्पना करके आलस्य हीन होकर भगवान् के मुख का ध्यान करे।

तस्यावलोकमधिक कृपयातिघोरतापत्रयोपशमनाय विसृष्टमक्ष्णोः । स्निग्धस्मितानुगणित विपुल प्रसाद ध्यायेच्चिर विपुल भावनया गुहायाम् ॥

(भाग० ३।२८।३१)

भगवान् की सुस्निग्ध हास्य युक्त चितवन, जो ध्यान करने वालों के अतिघोर तीन प्रकार के (आध्यात्मिक, आधिभौतिक आधिदैविक) तापों को हरने वाली और ईश्वर की अत्यन्त प्रसन्नता को जताने वाली है उसका चिरकाल तक निरन्तर एकाग्र होकर अपने हृदय में ध्यान करे।

हास हरेरवनताखिललोकतीव्र शोकाश्रुसागरविशोषणमत्युदारम् । समोहनाय रचित निज माययास्य भ्रूमण्डल मुनिकृते मकरध्वजस्य ॥

(भाग० ३।२८।३२)

भगवान् के हास (मुसकान) का ध्यान करे, जो भक्ति से नम्र सम्पूर्ण लोगों के शोक जनित अश्रु-सागर को सुखाने वाला और अत्यन्त उदार है और भगवान् के उस भ्रूमंडल का भी ध्यान करे जो मुनियों के उपकार के लिये तप में विघ्न करने वाले कामदेव को मोहने के लिये स्वयं भगवान् की माया से रचित है।

ध्यानायनं प्रहसितं बहुलाधरोष्ठभासारुणायिततनुद्विजकुन्दपंक्ति । ध्यायेत्स्वदेहकुहरेऽवसितस्य विष्णोर्भक्त्यार्द्रयार्पितमना न पृथक् दिदृक्षेत् ॥

(भाग० ३।८८।३३)

भगवान् के उस हास्य का ध्यान करे जो अति सुन्दर होने के कारण सहज में ही ध्यान करने के योग्य है जिस हास्य से अधरओष्ठ की अधिकतर कान्ति द्वारा कुन्दकली के सदृश भगवान् की सूक्ष्मदन्त-पंक्ति अरुण वर्णको प्राप्त करके परम शोभित हो रही है विनम्र भक्ति से मन को भगवान् में लगाकर अपने शरीर में अवस्थित भगवान् के उस हास्य का ध्यान करे उसके सिवाय और कुछ देखने की इच्छा न करे।

एवं हरौभगवति प्रतिलब्धभावो भक्त्याद्रवद्हृदय उत्पुलकः प्रमोदात् । औत्कण्ठ्यबाष्पकलयामुहुरर्द्यमानस्तच्चापिचित्तवड़िशं शनकैर्वियुंक्ते ॥

(भाग० ३।२८।३४)

इस तरह ध्यान करने से भगवान् में प्रेम होता है भक्ति से हृदय परिपूर्ण होकर द्रवित होने लगता है आनन्द से रोम खड़े हो जाते हैं दर्शन की उत्कंठा से नेत्रों में आनन्द के आंसू भर आते हैं। इस प्रकार पाद से लेकर मस्तक पर्यन्त जो ध्यान क्रम में कहा गया है उसके निरन्तर सप्रेम अभ्यास करने पर और उसमें चित्त की एकाग्रता हो जाने से साधक दुर्गम्य भगवान् को प्राप्त करने में वशी अर्थात् मत्स्य वेधन यन्त्र की तरह साधन स्वरूप अपने चित्त को भी ध्येय से वियुक्त करता है अर्थात् उसके धारण करने में भी प्रयत्न शिथिल हो जाता है।

ध्यान विधि।

यमुनातटनिकटस्थितवृन्दावनकानने महारम्ये।
कल्पद्रुमतलभूमौ चरणं चरणोपरिस्थाप्य॥
तिष्ठन्तं घननीलं स्वतेजसाभासयन्तमिह विश्वम्।
पीताम्बरपरिधानं चन्दनकर्पूरलिप्तसर्वांगम्॥
आकर्णपूर्णनेत्रं कुण्डलयुगमण्डितश्रवणम्।
मन्दस्मितमुखकमलं सुकौस्तुभोदारमणिहारम्॥
वलयांगुलीयकाद्यानुज्ज्वलयन्तं स्वलंकारान्।
गलविलुलितवनमालं स्वतेजसापास्तकलिकालम्॥
गुंजारवालिकलितं गुञ्जापुञ्जान्विते शिरसि।
भुञ्जानं सह गोपैः कुञ्जान्तरवर्तिनं हरिं स्मरत॥
(प्रबोध सुधाकर १८४-१८८)

यमुनाजी के तट पर स्थित वृन्दावन के महामनोहर उद्यान में जो कल्प वृक्ष के नीचे पृथ्वी पर पांव पर पांव रख खड़े हुए हैं, मेघ के समान श्याम वर्ण हैं, अपने तेजसे इस निखिल ब्रह्माण्ड को प्रकाशित कर रहे हैं, सुंदर पीताम्बर धारण किये हुए हैं समस्त शरीर में चन्दन का लेप किये हुए हैं। कर्ण पर्यन्त लम्बायमान जिनके नेत्र हैं, दोनों कानों में कुण्डल सुशोभित हो रहे हैं, मुख कमल पर मन्द मन्द मुसकान है, वक्षः स्थल पर कौस्तुभ मणि युक्त हार है। जिनकी शोभा से कंकण, अंगूठी आदि आभूषणों की भी शोभा हो रही है, जिनके गले में वनमाला लटक रही है और अपने तेज से जिन्होंने कलिकाल को परास्त कर दिया है। गुंजावलि से युक्त गुंजा और भ्रमरों का शब्द जिनके शिरपर होरहा है, किसी कुंजके भीतर बैठकर जो ग्वाल बालों के साथ भोजन कर रहे हैं उन भगवान्‌को स्मरण करो।

मन्दारपुष्पवासितमन्दानिलसेवितं परानन्दम्।
मन्दाकिनीयुतपदं नमत महानन्ददं महापुरुषम्॥
(प्रबोध सुधाकर १८९)

कल्पवृक्ष के पुष्पों के गंध से भरी मन्द मन्द वायु से सेवित हैं परमानन्द स्वरूप हैं तथा जिनके चरण कमलों में श्रीगंगाजी विराजमान हैं उन महानन्ददायक महा पुरुष को नमस्कार करो।

सुरभीकृतदिग्वलयं सुरभिशतैरावृतं सदा परितः।
सुरभीतिक्षपणमहासुरभीमं यादवं नमत॥
(प्रबोध सुधाकर १९०)

जिन्होंने सारी दिशाओं को सुगन्धित कर दिया है, जो चारों ओर से कामधेनुओं के समान गौओं से घिरेहुए हैं। देवताओं के भय को दूर करने के लिये बड़े बड़े असुरों को भय उपजानेवाला जिनका भयानक रूप है उन यदुकुल भूषण को नमस्कार करो।

"ध्यान नियमस्तु दृष्टसौकर्यात्॥"

(शाण्डिल्य सूत्र ६५)

ध्यान का नियम ध्येय की सुकरता (मनोज्ञता) ही से हो सकता है। अर्थात् ईश्वर के अनेक रूप हैं, अनेक प्रकार से चित्त के विक्षेप को दूर रखकर जिसका जिस रूप में विशेष मनोज्ञता प्रतीत हो, जिस रूप का दर्शन चित्त में अधिक रुचिकर जचे, उसी रूप के ध्यान करने से चित्त में प्रेम वृद्धि के साथ परम अनुरागवती भक्ति उत्पन्न होती है। जैसे परम सौन्दर्य सम्पन्न श्रीकृष्ण भगवान् के रूप में सुकरता (मनोज्ञता) विशेष हो वैसे ही रूप के ध्यान में अनुराग सहित भक्ति का उदय शीघ्र होता है। इसी प्रकार रामचन्द्र आदि भगवान् के अवतारों के रूप में भी मनोज्ञता है इसमें सन्देह नहीं, अतएव ये भक्ति के लिये सुख साध्य हैं। सगुण उपासक अपनी उपासना को ही श्रेष्ठ समझ कर उसी में तल्लीन रहता है। निर्गुण उपासनामें उसकी प्रवृत्ति नहीं रहती है। जैसे कहा है—

ध्यानाभ्यास वशीकृतेन मनसा तन्निर्गुणं निष्क्रियम्।
ज्योतिः किंचन योगिनो यदि परं पश्यन्ति पश्यन्तु ते॥

अस्माकन्तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरम् ।
कालिन्दी पुलिनोदरे किमपि यन्नीलं महो धावति ॥

योगी लोग ध्यान के अभ्यास से मन को वश में करके उस निर्गुण, निष्क्रिय, परम तत्त्व, प्रकाशस्वरूप ब्रह्म का साक्षात्कार करते हैं तो करें, हमारे लिये तो, यमुना के बालुमय तट पर जो श्याम वर्ण तेज है वही आंखों के सामने चिरकाल तक रहे।

* इति द्वादश रत्न *
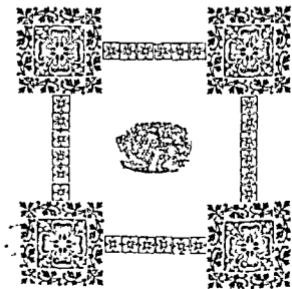
निर्गुण उपासना ।

जिस मनुष्य को वेदान्त शास्त्र का सामान्य ज्ञान हो, बुद्धि चंचल न हो, उस मनुष्य के द्वारा निर्गुण परमात्मा का जो ध्यान किया जाता है उस ध्यान को निर्गुण उपासना कहते हैं।

निर्गुण उपासना का स्वरूप और फल ।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्रसमबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूत हितेरताः ॥
(भ० गी० १२।३,४)

जो मनुष्य इन्द्रियों का संयम करके सर्वत्र समदृष्टि रखते हुए प्राणी मात्र के हित साधन में लगे रहते हैं और निर्गुण ब्रह्म की उपासना करते हैं, जिस ब्रह्म का शब्द द्वारा कथन नहीं किया जा सकता अर्थात जो अनिर्देश्य है और अव्यक्त अर्थात् जाति, गुण, क्रिया, सम्बन्ध इनसे रहित है, जो सर्वव्यापी है और अक्षर अर्थात अविनाशी है जो मन के द्वारा नहीं जाने जाते, जो निन्य है और कूटस्थ अर्थात् सर्व साक्षी है, अचल अर्थात् अविकारी है उस निर्गुण ब्रह्म की उपासना करने वाले ब्रह्म स्वरूप को ही प्राप्त कर लेते हैं अर्थात वे ब्रह्म रूप होजाते हैं।

यं वै न गोभिर्मनसासुभिर्वा हृदा गिरा वासुभृतो विचक्ते ।
आत्मानमन्तर्हृदि सन्तमात्मनां चक्षुर्यथैवाकृनयस्ततः परम् ॥
(भाग० ६।३।१६)

ब्रह्म जो आत्माओं के (जीवों के) आत्मा (द्रष्टा) है और आकृतिओं का प्रकाशक है उसे प्राणी गण नहीं देख पाते इन्द्रियों के द्वारा तथा चित्त से भी उसे नहीं देख पाते हैं। जैसे आकृतिया (रूप) चक्षु को नहीं देख पाती हैं किन्तु चक्षु रूप को देख सकता है। समस्त इन्द्रियों का उस ब्रह्म से प्रकाश होता है तो फिर इन्द्रियों से उस ब्रह्म का कैसे प्रकाश हो सकता है अर्थात् प्रमाण के द्वारा प्रमाता का ज्ञान नहीं होता है किन्तु प्रमाता के द्वारा प्रमाण का ज्ञान होता है। ऐसे शब्दातीत, मन और वाणी के अविषय ब्रह्म की निरन्तर दीर्घकाल तक श्रद्धा सहित जो उपासना करते हैं वह अन्त में भृङ्ग कीट न्याय से ब्रह्म रूप हो जाते हैं। यद्यपि शास्त्रों में कहा गया है कि जिस पुरुष ने प्रथम नित्य अनित्य वस्तु विवेक, वैराग्य, षट् सम्पत्ति और मुमुक्षुता इन चार साधनों को प्राप्त कर लिया है तथा जो भली भांति श्रवण, मनन और निदिध्यासन रूप अनुष्ठान से सम्पन्न है उसी अधिकारी को तत्त्व पदार्थ अर्थात् ब्रह्म और आत्मा के विवेचन करने से उनके अभेद ज्ञान के द्वारा ब्रह्म भाव स्वरूप मोक्ष प्राप्त होता है किन्तु जिस पुरुष ने उपनिषद् का श्रवण कर लिया है, उस पुरुष को भी बुद्धि की मन्दता आदि किसी प्रतिबन्ध के कारण ब्रह्म और आत्मा के विधि पूर्वक विवेचन करने पर भी साक्षात्कार स्वरूप वास्तव अभेद ज्ञान नहीं होने के कारण मोक्ष प्राप्त नहीं होता। अतएव वैसे पुरुष को वास्तव अभेद ज्ञान के द्वारा मोक्ष रूप फल प्राप्त कराने के लिये ही

निर्गुण ब्रह्मकी उपासना शास्त्रमें कही गयी है और उससे भी मोक्ष प्राप्त होता है। इसका दृष्टान्त देकर विवेचन करते हैं। शास्त्रों में दो प्रकार के भ्रम कहे गये हैं, १ सवादी भ्रम और २ विसंवादी भ्रम।

सवादी भ्रम।

सफल, प्रवृत्ति जनक, भ्रान्ति ज्ञान और उसके विषय को सवादी भ्रम कहते हैं। जिस भ्रम से की गयी प्रवृत्ति सफल होती है वह भ्रम और उसके विषय सवादी भ्रम हैं।

विसंवादी भ्रम।

निष्फल, प्रवृत्ति जनक, भ्रान्ति ज्ञान और उसके विषय को विसंवादी भ्रम कहते हैं। जिस भ्रम से की गयी प्रवृत्ति निष्फल होती है वह भ्रम और उसके विषय विसंवादी भ्रम हैं। जैसे सवादी भ्रम से भी मनुष्य की जो प्रवृत्ति होती है वह सफल ही होती है उसी प्रकार निर्गुण ब्रह्म की उपासना जो भ्रम रूप है उससे भी मोक्ष प्राप्त होता है अर्थात् निर्गुण उपासना भी सवादी भ्रम की तरह सफल होती है। जैसे—

मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याभिधावतो ।
मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रिया प्रति ॥
(पञ्चदशी ध्यानदीप २)

मणि की प्रभा और दीपक की प्रभा को मणि समझकर उसे लेने के लिये दौड़ते हुए दोनों व्यक्तियों को यद्यपि भ्रम ही हो रहा है क्योंकि प्रभा (प्रकाश) को मणि समझना दोनों की सरा

सर भूल है, तथापि प्रवृत्ति रूप अर्थ क्रिया में भेद है अर्थात् उन दोनों में एक व्यक्ति की प्रवृत्ति सफल होती है और एक की निष्फल होती है।

दीपोऽपवरकस्यान्तर्वर्तते तत्प्रभा बहिः ।
दृश्यते द्वार्यथान्यत्र तद्वद्दृष्टा मणेः प्रभा ॥
(पञ्चदशी ध्यानदीप ३)

जैसे किसी मन्दिर में एक अन्तर्गृह है उस अन्तर्गृह में दीपक जल रहा है। उसकी प्रभा (प्रकाश) बाहर द्वार में रत्न की तरह जाज्वल्यमान और गोलाकार देखी जाती है, इसी तरह एक दूसरे मन्दिर के अन्तर्गृह के भीतर एक रत्न है उसकी भीप्रभा बाहर द्वार पर रत्न की तरह देखी जाती है।

दूरे प्रभाद्वयं दृष्ट्वा मणिबुद्ध्याभिधावतोः ।
प्रभायां मणिबुद्धिस्तु मिथ्याज्ञानं द्वयोरपि ॥
(पञ्चदशी ध्यानदीप ४)

दूर प्रदेश से दोनों प्रभा अर्थात् दीपक की प्रभा और मणि की प्रभा को देखकर दोनों को मणि समझकर उस मणि को लेने के लिये एक व्यक्ति दीपक की प्रभा की ओर दौड़ता है और दूसरा व्यक्ति मणि की प्रभा की ओर दौड़ता है; किन्तु प्रभा को मणि समझना दोनों का मिथ्या ज्ञान (भ्रम) है।

न लभ्यते मणिर्दीपप्रभां प्रत्यभिधावता ।
प्रभाया धावतावश्यं लभ्येतैव मणिर्मणेः ॥
(पञ्चदशी ध्यानदीप ५)

किन्तु जो व्यक्ति दीपक की प्रभा की ओर दौड़ता है उसे मणि नहीं मिलती है और जो व्यक्ति मणि की प्रभा की ओर दौड़ता है उसे अवश्य मणि मिल जाती है।

दीपप्रभामणिभ्रान्तिर्विसंवादिभ्रमः स्मृतः।
मणिप्रभामणिभ्रांतिः संवादिभ्रम उच्यते॥
(पञ्चदशी ध्यानदीप ६)

मणि की प्रभा के पास जाकर वहां से स्वयं उसे मणि दीख जाती है तथा उसकी भ्रान्त प्रवृत्ति भी सफल होजाती है और दीपक के प्रभा के पास जाने से वहां से उसे दीपक दीखता है, अतः उसकी प्रवृत्ति निष्फल होजाती है। दीपक की प्रभा में जो मणि की भ्रान्ति है वह विसंवादी भ्रम है और मणि की प्रभा में जो मणि भ्रम है वह संवादी भ्रम है। दृष्टान्त के द्वारा पूर्वोक्त संवादी भ्रम प्रत्यक्षात्मक दिखाया गया है अब अनुमान विषयक संवादी भ्रम और आगम विषयक संवादी भ्रम दिखाते हैं। जैसे—

बाष्प धूमतया बुद्ध्वा तत्रांगारानुमानतः।
वह्निर्यदृच्छया लब्धः स संवादिभ्रमो मतः॥
(पञ्चदशी ध्यानदीप ७)

किसी प्रदेश में बाष्प (बाफ) को देखकर उसे धूम (धूआ) जानकर वहां अग्नि का अनुमान करके जो व्यक्ति अग्नि लाने के लिये उस प्रदेश में जाता है और उसे दैवगत्या यदि वहां अग्नि मिल जाती है तब बाष्प में जो धूम ज्ञान भ्रम रूप है वह सफल होने से संवादी भ्रम कहा जाता है।

गोदावर्युदकं गंगोदकं मत्वा विशुद्धये ।
संप्रोक्ष्य शुद्धिमाप्नोति स संवादिभ्रमो मतः ॥

(पञ्चदशी ध्यानदीप ८)

(आगम अर्थात् शास्त्र के विषय मे सवादी भ्रम अब दिखाते हैं) गोदावरी नदी के जल को गगा जल समझ कर शुद्धि के लिये प्रोक्षण करने से उससे भी शुद्धि हो जाती है। वहां गोदावरी जल में जो गगा जल का ज्ञान है वह भ्रम रूप ही है किन्तु सफल होने के कारण संवादी भ्रम कहा जाता है।

ज्वरेणाप्तः सन्निपात भ्रान्त्या नारायणं स्मरन् ।
मृतः स्वर्गमवाप्नोति स संवादिभ्रमो मतः ॥

(पञ्चदशी ध्यानदीप ९)

ज्वर से कृत सन्निपात को प्राप्त मनुष्य भ्रम से नारायण को स्मरण करता हुआ मरकर स्वर्गलोक को प्राप्त करता है जैसे पापी अजा मिलने मरते समय अपने नारायण नाम के पुत्र को नारायण कह कर बुलाया जिससे वैकुण्ठलोक की प्राप्ति हो गयी है यह पुराण की कथा है। यह संवादी भ्रम है।

प्रत्यक्षस्यानुमानस्य तथा शास्त्रस्य गोचरे ।
उक्तन्यायेन सवादिभ्रमाः सन्ति हि कोटिशः ॥

(पञ्चदशी ध्यानदीप १०)

इस प्रकार प्रत्यक्ष और अनुमान तथा आगम के विषय में कहे गये संवादी भ्रम करोड़ों हैं।

अन्यथा मृत्तिकादारुशिला स्युर्देवता. कथम्।
अग्नित्वादिधियोपास्या कथं वा योषिदादय ॥

(पञ्चदशी ध्यानदीप ११)

अन्यथा मृत्तिका, काष्ठ, पत्थर आदि देवता के रूप में कैसे माने जा सकते हैं और उनकी पूजा भी कैसे हो सकती है क्योंकि स्वत तो मृत्तिका आदि देवता हैं नहीं, सवादी भ्रम से ही देवता मानकर उनकी पूजा की जाती है और छान्दोग्य उपनिषद् में स्त्री, पुरुष, पृथ्वी आदि को अग्नि मानकर उनकी उपासना जो कही गयी है वह भी सवादी भ्रम से ही कही गयी है।

अयथावस्तुविज्ञानात्फल लभ्यत ईप्सितम्।
काकतालीयत. सोऽय सवादिभ्रम उच्यते ॥

(पञ्चदशी ध्यानदीप १२)

अयथार्थ वस्तु के ज्ञान से अभिलषित फल काकतालीय न्यायादि (देवगति) से यदि प्राप्त हो जाय तो वह सवादी भ्रम है।

स्वयभ्रमोऽपि सवादी यथा सम्यक्फलप्रद ।
ब्रह्मतत्त्वोपासनापि तथा मुक्तिफलप्रदा ॥

(पञ्चदशी ध्यानदीप १३)

जैसे सवादी ज्ञान स्वय भ्रम रूप होते हुए भी यथार्थ फल दायक होता है वैसे ही निर्गुण ब्रह्म की उपासना भ्रम रूप होते हुए भी मोक्ष रूप यथार्थ फल का प्रदान करती है।

शका—अधिकारी में निर्गुण ब्रह्म के ज्ञान रहने अथवा ज्ञान नहीं रहने पर भी उसकी उपासना असभव है, क्योंकि निर्गुण ब्रह्म ज्ञान जो मोक्ष साधन है उसके रहने पर उपासना व्यर्थ है। उपासना का फल ज्ञान उपासना से प्रथम ही विद्यमान है अत ऐसे ज्ञान-युक्त अधिकारी का उपासना करना निष्फल है और ज्ञान नहीं रहने पर भी उपासना नहीं हो सकती है, क्योंकि जिसकी उपासना होती है उस वस्तु के ज्ञान के बिना उसकी उपासना नहीं हो सक्ती। अत निर्गुण ब्रह्म का ज्ञान न रहने पर भी उसकी उपासना असभव है, इस शका का समाधान इस प्रकार है—

वेदान्तेभ्यो ब्रह्मतत्त्वमखण्डैक रसात्मकम्।
परोक्षमवगम्यैतदहमस्मीत्युपासते ॥
(पञ्चदशी ध्यानदीप १४)

वेदान्त शास्त्रों के द्वारा अखण्ड एक रस ब्रह्म तत्त्व को परोक्ष रूप से जान करके "यह अखण्ड एक रस ब्रह्म तत्त्व मैं हूं" इस रूप से जिज्ञासु उपासना करते हैं अर्थात् उपासना से प्रथम वेदान्त शास्त्र द्वारा निर्गुण ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर लेता है किन्तु वह ज्ञान परोक्ष ज्ञान है, क्योकि शास्त्र-द्वारा जो ज्ञान होता है वह परोक्ष ज्ञान होता है। उस ज्ञान के प्राप्त होने पर निर्गुण ब्रह्म की उपासना रूप निदिध्यासन करना चाहिये। उस उपासना रूप निदिध्यासन के द्वारा निर्गुण ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान जो मोक्ष रूप है वह स्वयं निर्गुण ब्रह्म के उपासक को प्राप्त हो जाता है।

प्रत्यग्व्यक्तिमनुल्लिख्य शास्त्राद्विष्ण्वादिमूर्तिवत् ।
अस्ति ब्रह्मेतिसामान्यज्ञान मत्र परोक्षधीः ॥
(पञ्चदशी ध्यानदीप १५)

इस प्रकार निर्गुण ब्रह्मके परोक्ष रूप सामान्य ज्ञान रहने पर और अपरोक्ष रूप विशेष ज्ञान नहीं रहने पर निर्गुण ब्रह्मकी उपासना सभव है । साक्षी आनन्द रूप आत्म स्वरूप का साक्षात्कार नहीं होने से शास्त्र के द्वारा "ब्रह्म है इस प्रकार जा सामान्य ज्ञान है वह परोक्ष ज्ञान है जैसे सगुण उपासना में भी शास्त्र द्वारा विष्णु आदि की मूर्त्ति का सामान्य ज्ञान रहता है वह भी परोक्ष ज्ञान ही है ।

चतुर्भुजाद्यवगतावपि मूर्तिमनुल्लिखन् ।
अक्षैः परोक्षज्ञान्येव न तदाविष्णुमीक्षते ॥
(पञ्चदशी ध्यानदीप १६)

यद्यपि शास्त्र द्वारा ही विष्णु आदि की मूर्त्ति का चतुर्भुज आदि रूप से विशेष ज्ञान होता है तथापि चक्षु आदि इन्द्रियों से विष्णु आदि की मूर्त्ति का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होने के कारण वह उपासक भी परोक्ष ज्ञानी ही है क्योंकि उपासना काल में अपने उपास्य विष्णु को इन्द्रिय के द्वारा नहीं देखता है ।

परोक्षत्वापराधेन भवेन्नातत्त्ववेदनम् ।
प्रमाणेनैव शास्त्रेण सत्यमूर्तेर्विभासनात् ॥
(पञ्चदशी ध्यानदीप १७)

सिर्फ परोक्ष ज्ञान होने से भ्रान्तिज्ञान (भ्रमात्मक) नहीं कहा जा सकता है किन्तु विषय असत्य रहने से भ्रान्ति-ज्ञान कहा जाता है यहां तो प्रमाण स्वरूप शास्त्र के द्वारा ही यथार्थ विष्णु आदि की मूर्त्ति का ज्ञान होता है इसलिये ज्ञान के समय मूर्त्ति का सक्षात्कार नहीं होने पर भी वह ज्ञान भ्रान्ति ज्ञान नहीं कहा जाता।

उत्तरस्मिंस्तापनीये शैब्यप्रश्नेऽथ काठके ।
माण्डूक्यादौ च सर्वत्र निर्गुणोपास्तिरीरिता ॥
(पञ्चदशी ध्यानदीप ६३)

उत्तर तापनीय उपनिषद् में और शैब्य प्रश्न कठवल्ली माण्डूक्य आदि उपनिषदों में सर्वत्र निर्गुण उपासना कही गयी है। जैसे—

तापनीयोपनिषदि तावत् "देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्नणोरणीयां स मिममात्मानमोंकारं नो व्याचक्ष्व" इत्यादिना बहुधा निर्गुणोपासनमभिधीयते ॥

तापनीय उपनिषद् में निर्गुण उपासना कही गयी है। जैसे-देवगण प्रजापति (ब्रह्मा) से कहने लगे कि सूक्ष्म से भी अति सूक्ष्म इस ओंकार रूप आत्मा को हमें कहो, जिसकी हम लोग उपासना करें। इत्यादि वाक्यों के द्वारा बहुत प्रकार से निर्गुण उपासना कही जाती है।

शैब्य प्रश्ने प्रश्नोपनिषदिपंच मे प्रश्ने "यःपुनरेतंत्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत" इति ॥

पामर पुरुषो के द्वारा जो कृषि आदि साधारण व्यवहार होते हैं उनसे श्रेष्ठ कर्म का अनुष्ठान है और कर्मानुष्ठान से सगुण उपासना श्रेष्ठ है और सगुण उपासना से भी निर्गुण उपासना श्रेष्ठ है।

यावद्विज्ञान सामीप्य तावच्छ्रैष्ठ्य विवर्द्धते।
ब्रह्मज्ञानाय ते साक्षान्निर्गुणोपासन शनै ॥

(पञ्चदशी ध्यानदीप १२२)

जिस कार्य के द्वारा ब्रह्म ज्ञान जितना नजदीक होता है अर्थात् जिससे जितना शीघ्र ब्रह्म ज्ञान प्राप्त होता है उसकी उतनी श्रेष्ठता बढती है। निर्गुण उपासना धीरे धीरे साक्षात् ब्रह्म ज्ञान की तरह हो जाती है अत वह सर्व श्रेष्ठ है।

यथा सवादिविभ्रान्ति फलकाले प्रमायते।
विद्यायते तथोपास्तिर्मुक्तिकालेऽतिपाकत ॥

(पञ्चदशी ध्यानदीप १२३)

जिस प्रकार सवादी भ्रम फल प्रदान करने के समय प्रमा (यथार्थ ज्ञान) की तरह होता है उसी प्रकार निर्गुण उपासना अभ्यास के द्वारा अत्यन्त परिपक्व होने से मुक्ति रूप फल प्रदान के समय विद्या (ब्रह्म ज्ञान) की तरह होती है।

सवादिभ्रमत पुस प्रवृत्तस्यान्यमानत।
प्रमेति चेत्तथोपास्तिर्मान्तरेकारणायताम् ॥

(पञ्चदशी ध्यानदीप १२४)

जिस प्रकार सवादी भ्रम स्वयं प्रमा नहीं है किन्तु सवादी भ्रम से युक्त पुरुष को अन्य प्रमाण (इन्द्रिय विषय सम्बन्ध) के द्वारा प्रमा होती है अर्थात् उसकी प्रवृत्ति सफल हो जाती है उसी प्रकार निर्गुण उपासना भी महावाक्यों के द्वारा निदिध्यासन रूप अपरोक्ष ज्ञान का कारण है।

मूर्तिध्यानस्य मन्त्रादेरपि कारणता यदि ।
अस्तु नाम तथाप्यत्र प्रत्यासत्तिर्विशिष्यते ॥
(पञ्चदशी ध्यानदीप १२५)

यद्यपि इसी प्रकार सगुण उपासना में भी मूर्तियों के ध्यान और मन्त्र आदि से चित्त की एकाग्रता के द्वारा अपरोक्ष ज्ञान होता है तथापि निर्गुण उपासना मे प्रत्यासत्ति (ज्ञान के प्रति सामीप्य) विशेष है अर्थात् इससे शीघ्र ज्ञान प्राप्त होता है।

निर्गुणोपासन पक्व समाधिः स्याच्छनैस्ततः ।
यः समाधिर्निरोधाख्यः सोऽनायासेन लभ्यते ॥
(पञ्चदशी ध्यानदीप १२६)

निर्गुण उपासना के परिपक्व होने से जो समाधि प्राप्त होती है वह सविकल्प समाधि रहती है और सविकल्प समाधि के द्वारा त्रय उसके भी निरोध हो जाने से निर्विकल्प (निर्बीज) समाधि अपने आप हो जाती है।

निरोधलाभे पुंसोऽन्तरसङ्ग वस्तु शिष्यते ।
पुन.पुनर्वासितेऽस्मिन्वाक्याज्जायेत तत्त्वधीः ॥
(पञ्चदशी ध्यानदीप १२७)

निर्विकल्प समाधि प्राप्त होने से पुरुष के हृदय में असग वस्तु अवशिष्ट रह जाती है और बारबार उस असंग वस्तु की भावना करने से तत्त्वमसि आदि महावाक्यों के द्वारा तत्त्व ज्ञान (अपरोक्ष ज्ञान) हो जाता है। इस प्रकार सगुण उपासना में तत्त्व ज्ञान शीघ्र नहीं होता है उससे बहुत अधिक समय लग कर तत्त्व ज्ञान हो सकता है इसलिये निर्गुण उपासना सब से श्रेष्ठ है। ब्रह्मविन्दु उपनिषद् में भी निर्गुण उपासना कही गयी है। जैसे—

स्वरेण संधयेद्योगमस्वरं भावयेत्परम् ।
अस्वरेण हि भावेन भावो नाभाव इष्यते ॥

(ब्र० बि० उप० ७)

प्रथम स्वर से अर्थात् सगुण ब्रह्म में अपने मन को लगा कर फिर अस्वर अर्थात निर्गुण ब्रह्ममें मनको लगा देना चाहिये, निर्गुण भावना से भाव (परमार्थ वस्तु) अभाव रूप नहीं होता है।

शब्दाक्षर परब्रह्म यस्मिन्क्षीणे यदक्षरम् ।
तद्विद्वानक्षरं ध्यायेद्यदीच्छेच्छान्तिमात्मनः ॥

(ब्र० बि० उप० १६)

देहादिक के नाश होने पर भी जिसका नाश नहीं होता है वह शब्दाक्षर परब्रह्म है। जो अधिकारी पुरुष अपने कल्याण की अभिलाषा करता है उसे अक्षर ब्र का ध्यान करना चाहिये।

द्वेविद्ये वेदितव्ये तु शब्दब्रह्म परं च यत् ।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥

(ब्र० बि० उप० १७)

शब्दब्रह्म और परब्रह्मकी (परा और अपरा) ऐसी दो प्रकार की विद्या जानो। जो पुरुष शब्दब्रह्म के जानने में कुशल होता है उसे परब्रह्म की प्राप्ति होती है।

ग्रन्थमभ्यस्य मेधावी ज्ञानविज्ञानतत्त्वतः।
पलालमिव धान्यार्थी त्यजेद्ग्रन्थमशेषतः॥
(ब्र० बि० उप० १८)

जैसे धान की इच्छा वाले धान को ग्रहण करके पराल को छोड़ देते हैं वैसे बुद्धिमान् पुरुष ग्रन्थों का अभ्यास कर के ज्ञान विज्ञान को प्राप्त करने के पश्चात सब ग्रन्थों का त्याग कर दे।

निर्गुण उपासना की अवधि।

यावच्चिन्त्य स्वरूपत्वाभिमानः स्वस्य जायते।
तावद्विचिन्त्य पश्चाच्च तथैवामृति धारयेत्॥
(पञ्चदशी ध्यानदीप ७८)

उपास्य वस्तु की स्वरूपता का अभिमान उपासक को जब तक रहे तब तक चिन्तन करके पीछे उसी को मरण पर्यन्त धारण करना चाहिये। इससे यह सिद्ध होता है कि उपास्य वस्तु की स्वरूपता का अभिमान उपासना की अवधि है।

विरोधिप्रत्ययं त्यक्त्वा नैरन्तर्येण भावयन्।
लभते वासनावेशात्स्वप्नादावपि भावनाम्॥
(पञ्चदशी ध्यानदीप ८२)

उपास्य से अतिरिक्त वस्तुओं का चिन्तन छोड़कर निरन्तर उपास्य वस्तु की ही भावना (उपासना) करने से भावना की दृढ़ता होजाने से स्वप्न में भी वही भावना रहने लगती है।

भुञ्जानोऽपि निजारब्धमास्थातिशयतोऽनिशम् ।
ध्यातु शक्तो न सन्देहो विषयव्यसनी यथा ॥

(पञ्चदशी ध्यानदीप ८३)

अपने प्रारब्ध कर्म को भोगता हुआ भी पुरुष आस्था (मनोयोग) के आधिक्य से विषयवाली स्त्री की तरह सदैव ध्यान कर सकता है इसमें सन्देह नहीं।

परव्यसनिनी नारी व्यग्राऽपि गृहकर्मणि ।
तदेवास्वादयत्यन्त परसगरसायनम् ॥

(पञ्चदशी ध्यानदीप ८४)

जिस प्रकार परपुरुष के सग करने का जिस स्त्री को व्यसन (आदत) पड गया है वह स्त्री गृह कार्य को करती हुई भी परपुरुष के सग रूप रसायन का ही आस्वादन करती रहती है।

परसग स्वादयन्त्या अपि नो गृहकर्म तत् ।
कुठीभवेदपि त्वेतदापातेनैव वर्त्तते ॥

(पञ्चदशी ध्यानदीप ८५)

परपुरुष के सग का आस्वादन करने वाली उस स्त्री का गृह कर्म भी नष्ट नहीं होता, किन्तु उदासीन भाव से गृह कर्म किया जाता है।

गृहकृत्यव्यसनिनी यथा सम्यक्करोति तत् ।
परव्यसनिनी तद्वन्न करोत्येव सर्वथा ॥
(पञ्चदशी ध्यानदीप ८६)

जिस स्त्री को गृह कार्य का व्यसन है, परपुरुष का व्यसन नहीं है वह स्त्री जैसे सुचारु रूप से गृहकार्य करती है उस प्रकार परपुरुष के व्यसन वाली स्त्री गृह कार्य नहीं करती।

एवं ध्यानैकनिष्ठोऽपि लेशाल्लौकिकमाचरेत् ।
तत्त्ववित्त्वविरोधित्वाल्लौकिकं सम्यगाचरेत् ॥
(पञ्चदशी ध्यानदीप ८७)

ऐसे ही एक ध्यान में निष्ठा रखने वाला पुरुष भी जो अनिवार्य शौच, आहार आदि हैं उन्हीं लौकिक व्यवहारों को लेश रूप से करते हैं और पूर्णतत्त्ववित् अर्थात् अपरोक्ष ब्रह्म ज्ञान हो जाने पर सम्यक् रूप से करते हैं।

निर्गुण उपासना का अधिकारी।

अत्यन्तबुद्धिमान्द्याद्वा सामग्र्या वाप्यसंभवात् ।
यो विचारं न लभते ब्रह्मोपासीत सोऽनिशम् ॥
(पञ्चदशी ध्यानदीप ५४)

अत्यन्त बुद्धि की मन्दता होने के कारण या सामग्री अर्थात् ब्रह्म तत्त्व के उपदेष्टा गुरु अध्यात्म शास्त्र व अनुकूल देश-काल आदि के असंभव होने से जो पुरुष ब्रह्म विचार को नहीं प्राप्त करता उसको निरन्तर रूप से ब्रह्म की उपासना करनी चाहिये

अर्थो यमात्मगीतायामपि स्पष्टमुदीरितः ।
विचाराक्षम आत्मानमुपासीतेति सततम् ॥
(पञ्चदशी ध्यानदीप १५१)

गीता शास्त्र मे भी यह बात स्पष्ट रूप से कही गयी है कि जो पुरुष ब्रह्म की मीमासा करने में असमर्थ हो उसे आत्मा की नित्य उपासना करनी चाहिये ।

उपास्तीनामनुष्ठानमार्षग्रन्थेषु वर्णितम् ।
विचाराक्षममर्त्याश्च तच्छ्रुत्वोपासते गुरोः ॥
(पञ्चदशी ध्यानदीप ७८)

ऋषि प्रणीत शास्त्रों में उपासना करने की विधि कही गयी है, उसे गुरु से अच्छी तरह समझ कर जो पुरुष ब्रह्म विचार करने में असमर्थ हैं वे उपासना करें ।

निर्गुण उपासना का साधन ।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥
तत्रैकाग्रं मन. कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥
(भ० गी० ६।११-१२)

विघ्नरहित पवित्र स्थानमें कुशासनके ऊपर कोमल व्याघ्रचर्म और उसके ऊपर कोमल वस्त्र का न तो ज्यादा ऊंचा और न ज्यादा नीचा और जो निश्चल रहे ऐसा अपना आसन रखकर

उस पर बैठ करके चित्त और इन्द्रियों के अन्य व्यापारों को छोडकर मन को एकाग्र करके अन्तःकरण की शुद्धि के लिये समाधि का अभ्यास करना चाहिये।

समकायशिरोग्रीव धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥
(भ० गी० ६।१३)

शरीर के मध्य भाग को और शिर तथा ग्रीवा को निश्चल रूप से रखते हुए अपनी नासिका के अग्रभाग में दृष्टि डालकर किसी दिशा की तरफ भी न देखते हुए स्थिर होकर समाधि का अभ्यास करना चाहिये।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥
(भ० गी० ६।१६)

हे अर्जुन! अपना हितकर जो अन्न का परिमाण है उससे अधिक भोजन न करने वाले से और उससे अल्प भोजन करने वाले से भी समाधि अर्थात् निदिध्यासन रूप उपासना नहीं होती, अधिक शयन करने वाले और सर्वथा जगने वाले से भी समाधि नहीं की जा सकती।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥
(भ० गी० ६।१७)

जिस पुरुष के आहार और विहार नियमित परिमाण के हैं, कर्मों में जिसकी चेष्टा नियमित है, सोने और जागने का समय जिसका नियमित है उसकी समाधि दुःखनाशक होती है।

यदा विनियत चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥
(भ० गी० ६।१८)

जब चित्त एकाग्र होकर केवल अपनी आत्मा में ही अवस्थित रहे और उपासक सब कामनाओं से निःस्पृह हो जाय तब समाधि सम्पन्न कहा जाता है।

यथा दीपो निवातस्थो नेंगते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥
(भ० गी० ६।१९)

जैसे निर्वात प्रदेश स्थित दीपक निश्चल रहता है, वैसे ही चित्त को एकाग्र रखने वाला उपासक जो समाधि का अभ्यास करता है, निश्चल रहता है।

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्ध योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥
(भ० गी० ६।२०)

समाधि के अभ्यास करते करते जिस अवस्था में चित्त विषयों से निवृत्त होकर उपरत रहने लगता है और उपासक सात्त्विक अन्तःकरण के द्वारा आत्मा का साक्षात्कार करता हुआ परमानन्द घन आत्मा में ही सन्तुष्ट रहता है।

सुखमात्यन्तिक यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवाय स्थितश्चलति तत्त्वत॰ ॥
(भ॰ गी॰ ६।२१)

जिस अवस्था में बिना विषय और इन्द्रिय के सयोग से ही अनन्त निरतिशय सुख का केवल सात्त्विक बुद्धि के द्वारा ही अनुभव करता है और जिस अवस्था में अवस्थित होकर पुरुष आत्म स्वरूप से चलित नहीं होता उस अवस्था को समाधि जानना चाहिये।

अथ हैनमत्रि. पप्रच्छ याज्ञवल्क्य य एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा त कथमह विजानीयामिति । स होवाच याज्ञवल्क्य॰ सोऽविमुक्त उपास्यो य एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा सोऽविमुक्ते प्रतिष्ठित इति ॥ सोऽविमुक्त कस्मिन्प्रतिष्ठित इति । वरणाया नाश्या च मध्ये प्रतिष्ठित इति । का वै वरणा का च नाशीति । सर्वानिन्द्रियकृतान्दोषानुवारयतीति तेन वरणा भवति । सर्वानिन्द्रियकृतान्पापान्नाशयतीति तेन नाशी भवतीति । कतम चास्य स्थान भवतीति। भ्रुवोर्घ्राणस्य च य. सन्धि स एष द्यौर्लोकस्य परस्य च सन्धिर्भवतीति। एतद्वै सन्धि सन्ध्या ब्रह्मविद उपासत इति । सोऽविमुक्त उपास्य इति । सोऽविमुक्त ज्ञानमाचष्टे यो वैतदेव वेदेति ॥२॥

(जाबालोपनिषद्)

अनात्मबुद्धिशैथिल्यं फलं ध्यानादिने दिने ।
पश्यन्नपि न चेद्ध्यायेत्कोऽपरोऽस्मात्पशुर्वद ॥
देहाभिमानं विध्वस्य ध्यानादात्मानमद्वयम् ।
पश्यन्मर्त्योऽमृतो भूत्वा ह्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥
(पञ्चदशी ध्यानदीप १५५-५७)

ब्रह्म का अनुभव नहीं होने पर भी 'अहं ब्रह्मास्मि' अर्थात् मैं ब्रह्म हूँ इसी की उपासना करनी चाहिये क्योंकि अविद्यमान वस्तु भी ध्यान करने से भृंग कीट न्याय से प्राप्त होजाती है तो फिर नित्य विद्यमान जो सर्वात्मक ब्रह्म है वह उपासक को क्यों नहीं प्राप्त होगा। उसकी उपासना करने से दिन प्रतिदिन द्वैत बुद्धि की शिथिलता रूप फल होता है उसे देखकर भी जो मनुष्य ध्यान न करे तो उससे बढ़कर दूसरा कौन पशु है यह कहा। उपासना करने से देह के अभिमान का विनाश कर के अद्वय रूप आत्मा का साक्षात्कार करता हुआ मनुष्य जो मरण धर्मवान् है वह अमृत होकर यहां ही ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।

यहा रहस्य यह है कि समस्त शास्त्रों का शिरोभूषण श्रुति है। श्रुति (वेद) के अतिरिक्त जितने शास्त्र हैं उन सबको स्मृति कहते हैं। स्मृति के निर्माण कर्ता ऋषिगण हैं जो स्मृति श्रुति के तात्पर्य से बहिर्मुख है वह मान्य नहीं है यह निर्विवाद रूप से सब स्मृतिकारों ने माना है अतएव महात्मा ऋषियों के द्वारा जिस स्मृति का निर्माण हुआ है उसका यही तात्पर्य है जो श्रुति

इसके बाद अत्रि मुनि याज्ञवल्क्यजी से पूछने लगे कि इस अनन्त और अव्यक्त आत्मा का ज्ञान कैसे हो सकता है ? तब याज्ञवल्क्य ने कहा कि अविमुक्त वस्तु की उपासना करनी चाहिये क्योंकि यह अव्यक्त अनन्त आत्मा अविमुक्त में ही प्रतिष्ठित है। तब फिर अत्रि ने पूछा कि वह अविमुक्त किसमें प्रतिष्ठित है ? ऋषि ने कहा वरुणा और नाशी में प्रतिष्ठित है। अत्रि ने पूछा वरुणा क्या है और नाशी क्या है ? जो शक्ति इन्द्रियोंके द्वारा किये गये दोषोंका निवारण करती है उसे वरणा कहते हैं और इन्द्रियो क द्वारा किये गये पापों का विनाश करती है उसे नाशी कहते हैं, यह याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया। पुन अत्रि ने पूछा कि इस अविमुक्त का स्थान कहां है ? तब याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि दो भ्रुकुटी और नासिका के बीच में जो भाग है वह अविमुक्त का स्थान है। वह सन्धि स्वर्गलोक और अन्य लोककी सन्धि है ब्रह्मज्ञानी अच्छी तरह उपासना करने के योग्य इसी सन्धि की उपासना करते हैं इसलिये उस अविमुक्त की उपासना करनी चाहिये। जो पुरुष इस प्रकार उपासना करने से अविमुक्त को जान लेता है वह अविमुक्त ज्ञान का उपदेश करता है।

निर्गुण उपासना का फल।

अनुभूतेरभावेऽपि ब्रह्मास्मीत्येव चिन्त्यताम् ।
अप्यसत्प्राप्यते ध्यानान्नित्याप्तं ब्रह्म किं पुन. ॥

अनात्मबुद्धिशैथिल्यं फलं ध्यानाद्दिने दिने ।
पश्यन्नपि न चेद्ध्यायेत्कोऽपरोऽस्मात्पशुर्वद ॥
देहाभिमानं विध्वस्य ध्यानादात्मानमद्वयम् ।
पश्यन्मर्त्योऽमृतो भूत्वा ह्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥
(पञ्चदशी ध्यानदीप १५५-५७)

ब्रह्म का अनुभव नहीं होने पर भी ' अहं ब्रह्मास्मि ' अर्थात मैं ब्रह्म हूँ इसी की उपासना करनी चाहिये क्योंकि अविद्यमान वस्तु भी ध्यान करने से भृंग कीट न्याय से प्राप्त होजाती है तो फिर नित्य विद्यमान जो सर्वात्मक ब्रह्म है वह उपासक को क्यों नहीं प्राप्त होगा । उसकी उपासना करने से दिन प्रतिदिन द्वैत बुद्धि की शिथिलता रूप फल होता है उसे देखकर भी जो मनुष्य ध्यान न करे तो उससे बढ़कर दूसरा कौन पशु है यह कहा । उपासना करने से देह के अभिमान का विनाश कर के अद्वय रूप आत्मा का साक्षात्कार करता हुआ मनुष्य जो मरण धर्मवान् है वह अमृत होकर यहां ही ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है ।

यहां रहस्य यह है कि समस्त शास्त्रों का शिरोभूषण श्रुति है । श्रुति (वेद) के अतिरिक्त जितने शास्त्र हैं उन सबको स्मृति कहते हैं । स्मृति के निर्माण कर्ता ऋषिगण हैं जो स्मृति श्रुति के तात्पर्य से वहिर्मुख है वह मान्य नहीं है यह निर्विवाद रूप से सब स्मृतिकारों ने माना है अतएव महात्मा ऋषियों के द्वारा जिस स्मृति का निर्माण हुआ है उसका यही तात्पर्य है जो श्रुति

का तात्पर्य है। जिस स्मृति का तात्पर्य श्रुति के विरुद्ध उपलब्ध होता है वह स्मृति कथमपि मान्य नहीं है और महात्मा ऋषि के द्वारा उसका निर्माण होना अप्रामाणिक है क्योंकि यह सर्वमान्य है कि—

श्रुतिविपरीतायाहि सा स्मृतिर्न प्रशस्यते।

श्रुति के तात्पर्य विरुद्ध जो स्मृति है वह प्रशंसित नहीं है।

इस दुरुह विश्व विधान के रुचि वैचित्र्य प्रतिभा शक्ति का तारतम्य, प्रवृत्ति वैषम्य, संयोग वियोग का प्राबल्य आदि की अनिर्वचनीयता का ध्यान करते हुए परम कारुणिक ऋषिगणोंके द्वारा उनके महर्षियों के तप के फलस्वरूप स्मृति निर्माण विभिन्न मार्ग मे विभिन्न शैली से जिज्ञासुओं की विभिन्न प्रतिभा शक्ति के सुगमता पूर्ण विकाश होने के लिये श्रुति का गवेषणापूर्ण तात्पर्य सरल भाषा में लाकर किया गया है। श्रुति की प्रामाणिकता से ही स्मृति की प्रामाणिकता सिद्ध है श्रुति की प्रामाणिकता स्वत सिद्ध है श्रुति अनादि, अनन्त और आप्त वचन है। पौरुषेय (पुरुष रचित) नहीं होने के कारण वह संशय, भ्रम से सर्वथा रहित है इसीलिये शास्त्रों में श्रुति को स्वतः प्रमाण और स्मृति को परतः प्रमाण कहा है।

वह श्रुति तीन काण्डों में विभक्त है—कर्मकाण्ड, उपासना काण्ड, ज्ञानकाण्ड। कर्मकाण्ड में ही उपासना काण्ड का भी अन्तर्भाव करके कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड इन दो काण्डों का ही कहीं २ जिक्र किया गया है। ज्ञानकाण्ड के द्वारा ज्ञान प्राप्त

करके इस दुःखमय संसार के भ्रमण चक्र से सदैव के लिये छुटकारा पाकर निरतिशय परमसुख प्राप्त करा देना ही श्रुति का तात्पर्य है और वही प्रत्येक जीव का परम अभिलषित रूप पुरुषार्थ है। परम सुख की प्राप्ति और लेश मात्र भी कभी दुःख न हो इसी उद्देश से किया गया स्मृति निर्माण भी लोक प्रिय होता है। कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड ये दोनों काण्ड ज्ञानकाण्ड के साधन रूप से कहे गये हैं। वर्णाश्रम के अनुसार शास्त्र विहित यज्ञादि कर्म करने से चित्त निर्मल होता है जिससे ज्ञाननिष्ठा का अंकुर उस निर्मल चित्त में उत्पन्न होजाता है।

भगवद्भक्ति आदि उपासना करने से चित्त निश्चल और एकाग्र होजाता है जिससे उपासक के निर्मल चित्त में ज्ञान निष्ठांकुर दृढ़ मूल होकर पल्लव पुष्प सम्पन्न हो जाता है जिसके द्वारा उपासक सहज में ही ज्ञान रूप फल को प्राप्त कर लेते हैं और स्थायी रूप से कल्याणमय पदारूढ़ होकर कृतकृत्य होजाते हैं। एक मात्र ज्ञान प्राप्त करने अर्थात् श्रुति के ज्ञानकाण्डके प्रतिपाद्य आत्मा के वास्तव स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने में ही श्रुति के कर्मकाण्ड और उपासनाकाण्ड का भी तात्पर्य है। पूर्वापर क्रम से काण्डत्रय का सेवन करना सोपान क्रम है किन्तु कर्म और उपासना इन दोनों का समुच्चय अर्थात् एक समय में दोनों का सेवन हो सकता है क्योंकि दोनों में कर्म निष्ठा तथा प्रवृत्ति रहती है अतः कर्म और उपासना दोनों के सेवन करने को कर्म निष्ठा कहते हैं। कर्मनिष्ठा और ज्ञाननिष्ठा दो ही निष्ठा शास्त्रों में कही

गयी है और ज्ञानकाण्डका सेवन पृथक् ही कहागया है। कर्म और उपासना से इसका समुच्चय नहीं है क्योंकि इसमें ज्ञान निष्ठा तथा निवृत्ति रहती है।

प्रवृत्ति और निवृत्ति, कर्मनिष्ठा और ज्ञाननिष्ठा, अन्धकार और प्रकाश की तरह परस्पर अत्यन्त विरुद्ध है इसलिये कर्म निष्ठा और ज्ञाननिष्ठा का समुच्चय नहीं है किन्तु कर्मनिष्ठा की उपयोगिता चित्त को निर्मल और निश्चल करने के द्वारा ज्ञान निष्ठा में है इसीलिये कर्मनिष्ठा भी उपादेय है यही श्रुति, स्मृति का तात्पर्य है।

ईश्वर के आश्रय में रहते हुए उसकी प्रसन्नता के लिये शास्त्रानुसार कर्म करते हुए भी अन्य विषयों में मन को आसक्त न रख कर उसी ईश्वर में मन को एकाग्र रूप से आसक्त रखना ईश्वर को प्रसन्न रखने और आत्मज्ञान रूप फल प्राप्त करने का सरल उपाय है।

और पुराणों में 'अकरणान्मन्दकरणं श्रेय" अर्थात् सर्वथा नहीं करने से थोडा करना भी श्रेष्ट हैं इसी अभिप्राय से कर्म-निष्ठा को ही सर्वोत्तम उपाय कहा है और उसके द्वारा स्वर्गादि लोक की प्राप्ति को ही अभिलषित पुरुषार्थ कहा गया है, आत्म ज्ञान प्राप्त करने में उसकी उपयोगिता का कहीं जिक्र तक भी नहीं किया गया है, किन्तु श्रुति के तात्पर्य का पर्यालोचन करने से यह निश्चय होता है कि इस प्रकारके सब वचन अर्थवाद वचन है, इस प्रकार गवेषणा पूर्व श्रुति, स्मृति के मनन करने से यह निश्चित होता है कि उपर्युक्त भक्तों में ज्ञानी भक्त सर्व श्रेष्ट भक्त है क्योंकि मानव का ध्येय जो परम सुख है वह उसे प्राप्त हो चुका है यह कृतकृत्य है।

ज्ञानी भक्त से कुछ नीची श्रेणी का भक्त मोक्ष काम भक्त है क्योंकि वह भी वही चाहता है और उसी के लिये प्रयत्न करता है, जो ज्ञानी भक्तको प्राप्त है। मोक्ष काम भक्त जब इस साधना-वस्था से सिद्धावस्था मे प्राप्त होता है तब ज्ञानी भक्त हो जाता है। मोक्ष काम भक्त से कुछ नीची श्रेणी का भक्त शुद्ध प्रेम भक्त है क्योंकि वह शीघ्र ही मोक्ष काम भक्त होकर ज्ञानी भक्त हो जाता है। शुद्ध प्रेम भक्त से कुछ नीची श्रेणी का भक्त सान्निध्य काम भक्त है क्योंकि वह चिरकाल तक वैकुण्ठ आदि लोकों में सुख पूर्वक निवास करने के पश्चात् मुमुक्षुता प्राप्त कर ज्ञानी भक्त होता है।

उपर्युक्त भक्तों में से किसी को साक्षात् किसी को परम्परा से इसप्रकार सबको तत्त्वज्ञान प्राप्तिपूर्वक मोक्ष प्राप्त होता है अत: वे

सव अर्थात ज्ञानी भक्त, मोक्ष काम भक्त, शुद्ध प्रेम भक्त, सान्निध्य भक्त श्रेष्ट हैं। इनमें उत्तरोत्तर में कुछ न्यूनता है क्योंकि उत्तरोत्तर में कुछ विलम्ब से मोक्ष प्राप्त होता है, यही इनका तारतम्य है। स्वर्गादि काम भक्त को स्वर्ग आदि लोकों में अपने पुण्य के अनुसार सुख भोग लेने के पश्चात् मर्त्यलोक में पुन आना पडता है और वह ससारी होकर जीवन मरण रूप क्लेश को भोगता रहता है किन्तु अर्थार्थी और आर्त्त भक्त से वह श्रेष्ट है क्योंकि अर्थार्थी भक्त और आर्त्त भक्त ऐहलौकिक सुख की कामना करते हैं। ऐहलौकिक सुख से पारलौकिक सुख अधिक काल तक रहने वाला और श्रेष्ट होने से स्वर्गादि काम भक्त इन दोनो से श्रेष्ट है।

* इति त्रयोदश रत्न *

इस ग्रन्थ में चित्त के मलदोष के निवारण के लिये निष्काम भाव से वर्णाश्रमानुकूल कर्मों का अनुष्ठान करनेका उपदेश और चित्त के विक्षेप दोष निवारण के लिये सगुण और निर्गुण उपासना आदि साधनों का उपदेश किया जा चुका है। अब चित्त के आवरण दोष निवारण का साधन बतलाना अत्यन्त आवश्यक होने से प्रासगिक समझकर प्रथम उसके स्वरूप का विवेचन करते हैं।

आवरण दोष।

चित्त में जिस दोष के रहने से अपने वास्तव स्वरूप का जो सच्चिदानन्द रूप है और जगत के स्वरूप का जो स्वप्न में देखे गये पदार्थों की तरह मिथ्या है अनुभव नहीं होता अर्थात जिस दोषसे मैं कौन हू परब्रह्मका स्वरूप क्या है और यह जगत् क्या है इसका वास्तविक ज्ञान नहीं होता उसे आवरणदोष कहते हैं। उक्त आवरण दोष की निवृत्ति केवल तत्त्वज्ञान से हो सकती है अन्य किसी साधन से नहीं हो सक्ती। जैसे श्रुति में कहा गया है " तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्य पन्था विद्यतेऽयनाय " ज्ञानादेवतुकैवल्यम् " " ऋते ज्ञानन्न मुक्ति " " उस ब्रह्म के जानने से इस जन्म मरणरूप क्लेश से छुटकारा हो सकता है मोक्ष प्राप्त करने का दूसरा मार्ग नहीं है" " ज्ञान से ही मोक्ष प्राप्त होता है " " बिना ज्ञान से मुक्ति नहीं मिलती है "। तत्त्व ज्ञान के विवेचन में उसके अधिकारी और प्रयोजनका भी निरू-

पण करना आवश्यक है अत प्रथम उसके अधिकारी का निरू पण करते हैं।

तत्त्वज्ञान का अधिकारी।

जिस पुरुष के अन्त करण में मलदोष और निक्षेपदोष न हो तथा साधन चतुष्टय सम्पन्न हो वह पुरुष तत्त्वज्ञानका अधिकारी है अर्थात् उस पुरुष का कर्मनिष्ठा का नहीं किन्तु ज्ञाननिष्ठा का अवलम्बन करना चाहिये।

साधन चतुष्टय।

विवेक, वैराग्य, षट् सम्पत्ति और मुमुक्षुता इन चार प्रकारके साधनों को साधन चतुष्टय कहते हैं। जिस पुरुष में उक्त चारों साधन नहीं रहते वह तत्त्वज्ञान का अधिकारी नहीं है तत्त्व ज्ञान के अधिकारी पुरुष में चारों साधन रहते हैं।

विवेक।

परब्रह्म नित्य (सदा स्थायी) है और उससे भिन्न सपूर्ण विश्व अनित्य (अस्थायी) है इस प्रकार का जो सामान्य ज्ञान है उसे विवेक कहते हैं।

वैराग्य।

इस लोक के और परलोक के जहा तक जो कुछ विषयभोग हैं उनमें से किसी भोग की भी इच्छा न हो, अर्थात् भोग की अभिलाषा क अभाव को वैराग्य कहते हैं।

षट् सम्पत्ति ।

शम, दम, श्रद्धा, समाधान, उपरति, तितिक्षा इस प्रकार षट् सम्पत्ति के छ भेद हैं किन्तु एक ही साधन माना जाता है ।

शम ।

मन को अनेक विषयों से रोक कर एक ध्येय विषय में ही एकाग्र रूप से सदैव निश्चल रखना इसीको शम कहते हैं ।

दम ।

कर्म इन्द्रिय और ज्ञान इन्द्रियों को अपने २ विषयों से रोकने को दम कहते हैं ।

श्रद्धा ।

श्रुति, स्मृति में और श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के वचनों में पूर्ण विश्वास रखने को श्रद्धा कहते हैं ।

समाधान ।

चित्त के विक्षेप के अभाव (निश्चल भाव) को समाधान कहते हैं ।

उपरति ।

विषय भोगों को अति तुच्छ समझकर उनसे ग्लानि होना अर्थात् विषय भोगों में घृणा भाव उत्पन्न होने के कारण उनसे विमुख रहना इसीको उपरति कहते हैं ।

तितिक्षा ।

सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास इत्यादि सहन करने को तितिक्षा कहते हैं। उपर्युक्त छः प्रकार की षट् सम्पत्ति है।

मुमुक्षुता ।

महा दुःख रूप जो यह संसार चक्र है उससे सदैव के लिये छुटकारा प्राप्त करने और परमानन्द रूप मोक्ष प्राप्त करने की जो उत्कृष्ट अभिलाषा है उसे मुमुक्षुता कहते हैं। उपर्युक्त चारों साधन (साधन चतुष्टय) अर्थात् विवेक, वैराग्य, षट् सम्पत्ति, मुमुक्षुता तत्त्व ज्ञान के अधिकारी पुरुष में विद्यमान रहते हैं, जिस पुरुष में ये उक्त साधन विद्यमान न हों वह पुरुष तत्त्व ज्ञान (ज्ञान निष्ठा) का अधिकारी नहीं है।

तत्त्व ज्ञान का स्वरूप ।

स्थूल, सूक्ष्म, कारण इन तीनों शरीरों से आत्मा पृथक् है ऐसा निश्चय करके उस आत्मा को सच्चिदानन्द ब्रह्म रूप समझना और उससे भिन्न यह दृश्यमान नाम रूपात्मक जो जगत है वह मिथ्या है, माया मात्र है ऐसा दृढ निश्चय करने को तत्त्व ज्ञान कहते हैं। अध्यारोप और अपवाद न्याय से वह तत्त्व ज्ञान सहज में ही प्राप्त होता है।

अध्यारोप ।

जिस वस्तु में जो वस्तु कभी न रहे अर्थात् भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों काल में भी जो वस्तु जिसमें नहीं रहने वाली है

उसे उस वस्तु में आरोप करने को अध्यारोप कहते हैं। जैसे रज्जु में सर्प कभी नहीं है अर्थात् तीनों काल में रज्जु सर्प नहीं हो सकता तथापि रज्जु में सर्प का आरोप करना अर्थात् रज्जु को सर्प समझना अध्यारोप है। उसी प्रकार सत्, चित, आनंद रूप ब्रह्म में माया और माया का कार्य यह जगत् कभी नहीं है अर्थात् वास्तव में ब्रह्म में यह द्वैत रूप संसार न कभी था और न है और न कभी होने वाला है तथापि अद्वय ब्रह्म में इस द्वैत रूप संसार का आरोप करना अर्थात् सच्चिदानंद ब्रह्म रूप आत्मा को सुखी, दुःखी, मृत, जीवित, कर्त्ता, भोक्ता, अनेक इत्यादि रूप मे संसारी समझना अध्यारोप है।

संसार की उत्पत्ति।

दुरूह, अघटित घटना पटीयसी, अनिर्वचनीय सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण इन तीनों गुणों का समुदाय स्वरूप माया जो अनादिकाल से ही शुद्ध सच्चिदानन्द अद्वितीय ब्रह्मके आश्रित है, उसमें उक्त त्रिविध गुणों के न्यूनाधिक्य होने से सबसे प्रथम उसी माया से शब्द गुण सहित आकाश उत्पन्न हुआ, उस आकाश से स्पर्श गुण सहित वायु की उत्पत्ति हुई, उस वायु से रूप गुण के साथ तेज की उत्पत्ति हुई उस तेज से रस गुण के साथ जल की उत्पत्ति हुई, उस जल से गन्ध गुण के साथ पृथिवी उत्पन्न हुई और जिससे जो उत्पन्न हुए उस कारण के गुण भी उस कार्य में समाविष्ट हुए अर्थात् आकाश का शब्द गुण वायु में, वायु का शब्द, स्पर्श तेज में तेज का शब्द, स्पर्श,

रूप जल में, जल का शब्द, स्पर्श, रूप, रस पृथिवी में समाविष्ट हुए। सारांश यह है कि एक २ गुण पच भूतों का खास अपना है और अन्य गुण कारण से प्राप्त हैं।

इस प्रकार आकाश का एक गुण शब्द, वायु के दो गुण शब्द और स्पर्श, तेज के तीन गुण शब्द, स्पर्श और रूप, जलके चार गुण शब्द, स्पर्श, रूप और रस, पृथिवी के पांच गुण शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध होते हैं। माया से आकाश, आकाश से वायु, वायु से तेज, तेज से जल, जल से पृथिवी की उत्पत्ति होने से साक्षात परम्परा से सबका उपादान कारण माया है। त्रिगुणात्मक मायासे उत्पन्न होने के कारण आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी इन पंच भूतों में सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण ये तीनों गुण विद्यमान हैं।

उक्त पंचभूतों के सम्मिलित सत्त्वगुण अंश से मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार रूप अन्तःकरण की उत्पत्ति हुई। उक्त पंचभूतों के सम्मिलित रजोगुण अंश से प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान ये पच प्राण उत्पन्न हुए। आकाशके केवल सत्त्वगुण अंश से श्रोत्र इन्द्रिय की उत्पत्ति हुई, वायु के केवल सत्त्वगुण अंश से त्वचा इन्द्रिय की उत्पत्ति हुई, तेज के केवल सत्त्वगुण अंश से नेत्र इन्द्रिय की उत्पत्ति हुई, जल के केवल सत्त्वगुण अंशसे रसना इन्द्रिय की उत्पत्ति हुई, पृथिवी के केवल सत्त्वगुण अंश से घ्राण इन्द्रिय की उत्पत्ति हुई। श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण ये पांच ज्ञानेन्द्रिय हैं इसी प्रकार आकाश के केवल

रजोगुण अश से वाक् इन्द्रिय की उत्पत्ति हुई, वायु के केवल रजोगुण अश से हस्त (पाणि) इन्द्रिय की उत्पत्ति हुई, तेज के केवल रजोगुण अश से पाद इन्द्रिय की उत्पत्ति हुई, जल के केवल रजोगुण अश से उपस्थ (शिश्न) इन्द्रिय की उत्पत्ति हुई, पृथिवी के केवल रजोगुण अश से गुदा इन्द्रिय की उत्पत्ति हुई। वाक्, पाणि, पाद, उपस्थ और गुदा (पायु) ये पाच कर्मेन्द्रिय हैं। इस प्रकार सूक्ष्म सृष्टि की उत्पत्ति हुई सूक्ष्म सृष्टि उत्पन्न होने के पश्चात् आकाश आदि पच भूतों का पचीकरण हुआ।

पंचीकरण की प्रक्रिया।

प्रत्येक भूत के दो समान भाग हुए उनमें से प्रत्येक भूत के एक भाग के चार भाग हुए इन चारों भागों के अपने से भिन्न अन्य चारों भूतों के अवशिष्ट आधे आधे भागों में समेलन होने से प्रत्येक भूत का पचीकरण होता है। जैसे—आकाश के दो समान भाग हुए और उसी प्रकार वायु, तेज, जल, पृथिवी इन सबके भी दो २ भाग हुए। आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी इन सबके आधे २ भाग के चार २ भाग हुए अपने से भिन्न अन्य चारों भूतों के अवशिष्ट आधे आधे भागों में प्रत्येक भूत के उन चारों भागों के समेलन होने से अर्थात् प्रत्येक भूत में अपना आधा हिस्सा रहता है और आधे हिस्सेकी पूर्ति अपने से भिन्न चारों भूतों के आधे आधे भाग के चतुर्थांश (चौथाई भाग) से की जाती है। इस प्रकार पच भूतों के पचीकरण

होने से स्थूल पंच भूत उत्पन्न होते हैं स्थूल पंच भूतों से स्थूल ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति होती है।

उस स्थूल ब्रह्मांड के अन्तर्गत में भूलोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, तपलोक, सत्यलोक ये ऊपर के सात लोक हैं और अतल, सुतल, पाताल, वितल, रसातल, तलातल और महातल ये नीचे के सात लोक हैं। इन चतुर्दश भुवनों में फिर औषधि, अन्न आदि उत्पन्न हुए। अन्न आदि उत्पन्न होने से रज-वीर्य के द्वारा यह स्थूल शरीर उत्पन्न हुआ। स्थूल शरीर भी चार प्रकारके होते हैं। जैसे-जरायुज, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज।

जरायुज।

जो शरीर जरायु (झिल्ली) से उत्पन्न होते हैं उन्हें जरायुज कहते हैं। जैसे—मनुष्य और गाय, महिष आदि पशु जरायुज हैं।

अण्डज।

जो शरीर अंडे से उत्पन्न होते हैं उन्हें अण्डज कहते हैं। जैसे—पक्षी, सर्प आदि अण्डज हैं।

स्वेदज।

जो शरीर स्वेद (पसीने) आदि से उत्पन्न होते हैं उन्हें स्वेदज कहते हैं। जैसे—जूं, खटमल आदि स्वेदज हैं।

उद्भिज्ज।

जो शरीर जमीन का भेदन करके जमीन से निकलते हैं, उन्हें उद्भिज्ज कहते हैं। जैसे—वृक्ष, लता आदि उद्भिज्ज हैं। इ-

सम्पूर्ण माया के कार्यों का सच्चिदानन्द रूप आत्मा में अध्यारोप है।

अपवाद।

सच्चिदानन्द रूप आत्मा में माया और माया के कार्य का जो अध्यारोप है उस अध्यारोप को शास्त्र और युक्तियों के द्वारा मिथ्या साबित करके आत्मा में उस अध्यारोप का जो बाध करना है उसे अपवाद कहते हैं। रज्जु में आरोपित सर्प का "यह सर्प नहीं है" इस प्रकार के ज्ञान से जैसे सर्प का बाध होता है वैसे ही इस आत्मा में आरोपित द्वैत रूप संसार का "यह ससार नहीं है" इस प्रकार के ज्ञान से बाध होता है।

तत्त्वज्ञान का साधन।

"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यो मन्तव्यो निदिध्यासिव्य." ॥

इत्यादि श्रुतियों से प्रमाणित होता है कि वेदान्त शास्त्र का निरन्तर दीर्घकाल तक श्रद्धा पूर्वक श्रवण, मनन और निदिध्यासन तथा तत्त्व पदार्थ का शोधन करना तत्त्व ज्ञान का साधन है और तत्त्व पदार्थ के शोधन करने में अत्यन्त उपयोगी होने के कारण प्रथम 'पञ्चकोश विवेक' की प्रक्रिया दिखाते हैं।

पंचकोश विवेक।

यह आत्मा स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर, कारण शरीर अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश और आनन्दमय कोश से भिन्न है।

स्थूल शरीर वा अन्नमय कोश ।

पंचीकृत पच तत्त्व जो आकाश, वायु तेज, जल, पृथिवी हैं उनके विकार स्वरूप, माता पिता के रज वीर्य से उत्पन्न, सुख दु:ख भोग करने के साधन, उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि, रूपान्तर प्राप्ति, अपक्षय, विनाश इन छः प्रकार के विकार से युक्त, जड़, असत, दु:ख रूप अनेकानेक स्थूल शरीर हैं और आत्मा इस स्थूल शरीर से भिन्न है क्योंकि आत्मा विकार से रहित, अनादि, अनन्त, चेतन, सद्रूप, आनन्द रूप एक है।

'मेरा शरीर' ऐसी प्रतीति होती है, मैं शरीर हूं ऐसी कभी प्रतीति नहीं होती, इत्यादि विवेचन करने से यह आत्मा स्थूल शरीर से भिन्न प्रतीत होता है क्योंकि 'मेरा' 'मैं' इन शब्दों से आत्मा का बोध होता है, यदि आत्मा ही शरीर होता तो 'मेरा शरीर' ऐसा कहना असगत हो जाता किन्तु मैं शरीर हूँ ऐसी प्रतीति होती, मैं शरीर हूँ ऐसी प्रतीति कभी नहीं होती है। आत्मा नित्य है, चैतन्य रूप है, सुख रूप है किन्तु शरीर के धर्मों के अध्यारोप से आत्मा भी अनित्य, दु:ख रूप और जड रूप है ऐसा मालूम पडता है। जैसे-रज्जु में भ्रम से सर्प भासित होता है उसी प्रकार भ्रम से आत्मा में शरीर के धर्म जन्म मरण आदि भासित होते हैं और जड शरीर में भ्रम से ही आत्मा के धर्म चैतन्य, सुख रूपता आदि भासित होते हैं। इस प्रकार गवेषणा करने से निश्चित होता है कि यह आत्मा स्थूल शरीर नहीं है। स्थूल शरीर से भिन्न है, स्थूल शरीर को ही अन्नमय कोश

कहते हैं। अन्नके विकार को अन्नमय कहते हैं अर्थात् माता पिता जिस अन्न को खाते हैं उसी अन्न के विकार स्वरूप रज और वीर्य के संयोग से स्थूल शरीर उत्पन्न होता है, उत्पन्न होने पर भी अन्न से ही इसका पोषण होता है अतः स्थूल शरीर अन्नमय कहलाता है और ढकन (आवरक) को कोश कहते हैं। जैसे—म्यान (कोश) तलवार को ढकती है वैसे यह शरीर भी साक्षी रूप आत्मा को ढकता है, अर्थात् आत्मा में सुख-दुःख भोगने का जो आरोप होता है उस भोग का आयतन (गृह) यही शरीर है। स्थूल शरीर रूप गृह के नहीं रहने से आत्मा में कभी सुख-दुःख भोगने की प्रतीति नहीं हो सकती है इसलिये स्थूल शरीर को अन्नमय कोश कहते हैं। अन्नमय कोश से आत्मा भिन्न है और सूक्ष्म शरीर से भी आत्मा भिन्न है।

सूक्ष्म शरीर।

प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश इन तीनों कोशों को सूक्ष्म शरीर कहते हैं। सूक्ष्म शरीर सतरह तत्त्वों से बनते हैं। जैसे—श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना, घ्राण ये पांच ज्ञानेन्द्रिय और वाक्, पाणि, पाद, उपस्थ, गुदा ये पांच कर्मेन्द्रिय तथा प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान ये पांच प्राण तथा मन और बुद्धि इन सतरह तत्त्वोंके समुदाय रूप सूक्ष्म शरीर है। चित्त का मन में और अहंकार का बुद्धि में अन्तर्भाव है। सूक्ष्म शरीर के तीन भाग हैं। जैसे-(१) प्राणमय कोश (२) मनोमय कोश (३) विज्ञानमय कोश।

प्राणमय कोश ।

पच प्राण और पच कर्मेन्द्रिय इन दोनों के समुदाय को प्राणमय कोश कहते हैं । पच प्राण और पच कर्मेन्द्रिय से आत्मा भिन्न है क्योंकि किसी हस्त पाद आदि इन्द्रिय के नहीं रहने पर भी आत्मा का अस्तित्व रहता है इसलिये हस्त, पाद आदि इन्द्रिया आत्मा नहीं हो सकती और कर्मेन्द्रिया क्रिया के करण (साधन) होती हैं अर्थात् कर्मेन्द्रिय के द्वारा कर्त्ता कार्य का सम्पादन करता है अत कर्मेन्द्रिय कर्त्ता नहीं है किन्तु साधन है । जैसे—कुल्हाडी के द्वारा बढई लकडी को काटता है, कुल्हाडी काटने में साधन हैं किन्तु कुल्हाडी बढई नहीं हो सकती । इसी प्रकार करण (साधन) होने से कर्मेन्द्रिय आत्मा नहीं है । पच प्राण भी आत्मा नहीं है क्योंकि पच प्राण वायु के विकार हैं और जडरूप है अत निर्विकार चैतन्य रूप आत्मा नहीं हो सक्ते हैं । कर्मेन्द्रिय और पच प्राण पच भूतों के विकार हैं और उनके अलग २ देवता हैं तथा अलग अलग उनकी क्रिया है । जैसे—आकाश आदि पच भूतों के पृथक् २ रजोगुण अश से उत्पन्न पच कर्मेन्द्रिय हैं उनके देवता और क्रिया । जैसे—

कर्मेन्द्रिय	देवता	क्रिया
वाक्	अग्नि	बोलना
पाणि	इन्द्र	लेना देना
पाद	वामन	चलना

उपस्थ	प्रजापति	रति भोग
गुदा	यम	मल त्याग

पंच भूतों के सम्मिलित रजोगुण अंश से पंच प्राण उत्पन्न हुए हैं उन प्राणों के अलग २ स्थान और अलग २ क्रियाएँ हैं।

प्राण	स्थान	क्रिया
१—प्राण	हृदय	क्षुधा पिपासा
२—अपान	गुदा	मल मूल त्याग करना
३—समान	नाभि	भुक्त अन्न जल को पचाना
४—उदान	कण्ठ	स्वास प्रस्वास
५—व्यान	सम्पूर्ण शरीर	रस सम्मेलन करना

उक्त पंच कर्मेन्द्रिय और पंच प्राण उत्पत्ति नाश वाले हैं। जड और क्रिया के साधन हैं अत ये आत्मा नहीं हैं। आत्मा नित्य, चैतन्य रूप तथा द्रष्टा है अतः प्राणमय कोश आत्मा नहीं है। मनोमय कोश से भी आत्मा भिन्न है।

मनोमय कोश।

श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना, घ्राण और मन इन छः तत्त्वों के समुदाय को मनोमय कोश कहते हैं। पच भूतों के पृथक् २ सत्त्वगुण अंश से पच ज्ञानेन्द्रिय की उत्पत्ति हुई है और पच भूतों के सम्मिलित सत्त्व गुण अश से मन की उत्पत्ति हुई है अत पंच भूतों के विकार होने से मनोमय कोश भी आत्मा नहीं हो सकता है। पंच ज्ञानेन्द्रिय के विषय और देवता पृथक् २ होते हैं। जैसे—

ज्ञानेन्द्रिय	देवता	विषय
श्रोत्र	दिशा	शब्द
त्वचा	वायु	स्पर्श
नेत्र	सूर्य	रूप
रसना	वरुण	रस
घ्राण	अश्विनी कुमार	गंध

उक्त पंच ज्ञानेन्द्रिय और मन ज्ञान के साधन हैं, ज्ञाता स्वरूप आत्मा नहीं हो सकते हैं। श्रोत्र आदि इन्द्रियों के नाश होने पर भी आत्मा का नाश नहीं होता है अत श्रोत्र आदि इन्द्रियां आत्मा नहीं हैं। मेरा श्रोत्र मेरा घ्राण इस प्रकार विभेद की प्रतीति होने से इन्द्रियां और मन आत्मा नहीं हैं यही निश्चित होता है और सुषुप्ति समय में इन्द्रियों के और मन के लय होने पर भी आत्मा का लय नहीं होता है। इस प्रकार गवेषणा करने से निश्चित होता है कि मनोमय कोश भी आत्मा नहीं है। विज्ञानमय कोश भी आत्मा नहीं है।

विज्ञानमय कोश।

श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना, घ्राण और बुद्धि इन छ तत्त्वों के समुदाय को विज्ञानमय कोश कहते हैं। इनमें पाच जो श्रोत्र आदि ज्ञानेन्द्रिय हैं वे आत्मा नहीं हैं यह पहले सयुक्तिक कह दिया गया है, उसी प्रकार बुद्धि भी आत्मा नहीं हो सकती है। पच भूतों के सम्मिलित सत्त्वगुण अश से मन की तरह बुद्धिकी भी उत्पत्ति होती है अत पच भूतो के विकार भूत जड़ बुद्धिभी

आत्मा नहीं है और बुद्धि का भी सुषुप्ति समय में लय होता है, आत्मा का लय नहीं होता; तथा बुद्धि भी ज्ञान का साधन है, आत्मा ज्ञान का साधन नहीं है वह तो ज्ञाता है अतः बुद्धि आत्मा नहीं हो सकती है। इस प्रकार विवेचन करने से विज्ञानमय कोश भी आत्मा नहीं है यही निश्चित होता है। बुद्धि जड़ है बुद्धि के चैतन्य स्वरूप का जो भान (प्रतीति) होता है वह भ्रम से होता है। जैसे स्फटिक (श्वेत मणि) के नीचे लाल पुष्प रखने से मणि भी लाल वर्ण की दीखने लग जाती है लोहा और अग्नि के सम्बन्ध से लोहा अग्नि रूप प्रतीत होता है इसी प्रकार चैतन्य आत्म स्वरूप के मिथ्या सम्बन्ध से बुद्धि का स्वरूप भी चैतन्य दीखता है। इस प्रकार सयुक्तिक विवेचन करने से यह सिद्ध होता है कि प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय स्वरूप जो सूक्ष्म शरीर है वह आत्मा नहीं है।

सूक्ष्म शरीर को ही लिंग शरीर कहते हैं जब तक जीव को मोक्ष प्राप्त नहीं होता है तब तक यह एक ही शरीर एक जीव का रहता है स्थूल शरीर तो एक ही जीव के अनन्तानन्त होते हैं।

कारण शरीर।

अविद्या के जिस अंश में अन्तःकरण, ज्ञान, कर्म, इन्द्रिय आदि लीन होकर वासना रूप में रहते हैं, अविद्या के उस अंश को कारण शरीर कहते हैं। सुषुप्ति समय में कारण शरीर का अनुभव जीव को होता है वह अज्ञान रूप है। जीवात्मा के सुख दुःख, जन्म मरण आदि के कारण होने से वह कारण

शरीर कहा जाता है। जब तक अविद्या रूप कारण शरीर की निवृत्ति नहीं होती है तब तक जीव को जन्म मरण निवृत्तिरूप मोक्ष नहीं प्राप्त होता है। कारण शरीर ही आनन्दमय कोश कहा जाता है।

आनन्दमय कोश।

अविद्या की प्रमोदाकार जो वृत्ति होती है उसे आनन्दमय कोश कहते हैं। सुषुप्ति समय में इस कारण शरीर रूप अविद्या की वृत्ति उत्पन्न होकर अपने अधिष्ठान भूत सच्चिदानन्द आत्मा के आभास को विषय करती है दर्शन मात्र होने पर यह वृत्ति प्रियाकार होती है और उस आत्मा के आभास की प्राप्ति होनेसे मोदाकार होती है। प्राप्ति होने के पश्चात् उस अविद्या वृत्ति का प्रमोदाकार परिणाम होजाता है जो आनन्द का भोग स्वरूप है, इसीलिये यह आनन्दमय कहा जाता है।

अविद्या की वृत्ति होने के कारण सच्चिदानन्द स्वरूप का अनुभव नहीं करती है। जैसे–तलवार के अत्यन्त नजदीक रहते हुए भी आवरक होने से म्यान तलवार को ढक कर रखती है उसी प्रकार आनन्दमय वृत्ति होने पर भी यह आवरक स्वरूप अविद्या होने से आत्मा को ढक देती है। सच्चिदानन्द आत्मा के आभास को विषय करने से इसे आनन्दमय कहते हैं। अविद्या की वृत्ति होने से यह भी विकार स्वरूप और जड़ है इसलिये आनन्दमय कोश भी आत्मा नहीं है यही सिद्ध होता है।

शका—देह इन्द्रिय, प्राण, मन बुद्धि इन पाच पदार्थों से अतिरिक्त किसी पदार्थ की उपलब्धि नहीं होता है। सबक शरीर इन्हीं पाच पदार्थों स बनते हैं क्योंकि शरीर म ये ही पाच पदार्थ दखे जाते हैं इनसे भिन्न किसी पदार्थ की प्रतीति नहीं होती है ता फिर इन्हीं पाचा में से किसी का आत्मा कहना पडेगा।

समाधान—देह इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि ये पाचों पदार्थ भी जिससे जाने जाते हैं अर्थात् इनका भी प्रकाश जिससे होता है, वह सर्व प्रकाशक स्वय प्रकाश रूप आत्मा देह, इन्द्रिय प्राण, मन, बुद्धि इनसे भिन्न है, अन्यथा इनका भी प्रकाश (अनुभव) नहीं होता क्योंकि उक्त पाचों पदार्थ पच भूतों से उत्पन्न हुए हैं और वे पच भूत जड हैं। अनुभव स्वरूप (चैतन्य स्वरूप) नहीं हैं और जो पदार्थ विकार स्वरूप होता है अर्थात् जो किसी से उत्पन्न हाता है वह जड होता है अत जड रूप पच भूतों के विकार स्वरूप देह, इन्द्रिय प्राण, मन बुद्धि भी जड हैं। जो देह, इन्द्रिय आदि पदार्थ जाग्रत अवस्था में दीखत हैं वे स्वप्न अवस्था में नहीं दीखत हैं, उनसे विलक्षण स्वप्न में दीखने लग जाते हैं और जो स्वप्न में दीखते हैं वे फिर सुषुप्ति (घोर निद्रा) अवस्था में नहीं दीखते हैं अत जाग्रत् के देह इन्द्रियादि सारे पदार्थ स्वप्न में असत्य होजात हैं और स्वप्न क सारे पदार्थ सुषुप्ति में असत्य होजाते हैं इसलिये देह, इन्द्रियादि सारे पदार्थ अनित्य साबित होते हैं और चैतन्य स्वरूप (अनुभव रूप) आत्मा ता जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में रहता ही है क्योंकि

कुछ न कुछ अनुभव तीनों अवस्थाओं में अवश्य रहता है। यद्यपि सुषुप्ति अवस्था में देह, इन्द्रियादि किसी पदार्थ का अनुभव नहीं होता है किन्तु अज्ञान का और सुख का उस समय भी अनुभव होता रहता है क्योंकि सुषुप्ति से उठने पर 'मैं सुख से सोया था कुछ भी नहीं जाना' ऐसी स्मृति होती है। यह तर्क सिद्ध है कि जिसकी स्मृति होती है, स्मृति से प्रथम उसका अनुभव अवश्य रहता है, अन्यथा स्मृति नहीं हो सकती है अतः जाग्रत् में जो उक्त स्मृति होती है उससे प्रथम अर्थात् सुषुप्तिमें उक्त स्मृतिके जो विषय हैं उनका अर्थात् अज्ञान और सुख का अनुभव होता है। सुषुप्ति अवस्था में भी जिसका अनुभव होता है वह भी समाधि अवस्था में नहीं रहता है। समाधि अवस्था में अज्ञान और उस प्रकार का सुख कुछ भी नहीं रहता है और स्वयं प्रकाश नित्य आत्मा सर्वदा अनुभव रूप रहता ही है। इस प्रकार जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, समाधि (तुरीयावस्था) और बाल्य, यौवन, वृद्धावस्था इन सब की एक दूसरे से विभिन्नता होने और इनके पदार्थ एक दूसरे में असत्य होने पर भी आत्मा सब में एक रूप से चैतन्य रूप नित्य रहता ही है अतएव आत्मा देह इन्द्रियादि सब से पृथक् है।

नात्मा वपुः पार्थिवमिन्द्रियाणि देवाह्यसुर्वायुजलं हुताशः।
मनोऽन्नमात्रं धिषणा च सत्त्वमहंकृतिः खं क्षितिरर्थसाम्यम् ॥

(भाग० ११।२८।२४)

यह पार्थिव शरीर आत्मा नहीं है इन्द्रियों के समूह और उनके अधिष्ठाता देवता भी आत्मा नहीं, प्राण, बुद्धि, चित्त, मन और अहंकार ये सब आत्मा नहीं है क्योंकि ये शरीर की तरह अन्न मात्र है अर्थात् इनकी भी क्रिया शक्ति अन्न के द्वारा ही होती है। वायु, जल, तेज, आकाश और पृथिवी ये पंच भूत तथा शब्द आदि विषय और साम्य अर्थात् प्रकृति ये भी आत्मा नहीं है।

जिस प्रकार यह आत्मा सर्वदा सत्य रूप है और सर्वदा चित् रूप (चैतन्य रूप) है उसी प्रकार आनन्द स्वरूप भी है क्योंकि अपनी आत्मा सबको प्रिय लगती है किसीको भी अप्रिय नहीं लगती।

स्त्री, पुत्र, धन आदि में जो प्रीति होती है वह भी अपनी आत्मा के लिये ही होती है। जो स्त्री, पुत्र, धन आदि अपने अनुकूल नहीं होवे उनमें प्रेम नहीं होता और अपने देह, इन्द्रिय आदि मे भी जो प्रीति होती है वह भी अपनी आत्मा के लिये ही होती है। राजा के द्वारा कारागार (जेल) के दुःख भोग का अथवा नरक के दुःख भोग का सोच करके बुद्धिमान पुरुष की चोरी आदि अन्याय से धनोपार्जन करने में प्रवृत्ति नहीं होती है साराश यह है कि जिस धन से अपनी आत्मा को दुःख भोगना पडेगा ऐसा निश्चय होजाता है उस धन में लोगोंका प्रेम नहीं होता। धन से अधिक स्त्री पुत्र प्रिय होते हैं क्योंकि स्त्री पुत्रों की विपन्नावस्था में उन विपत्तियोंसे स्त्री पुत्रों को बचाने के

लिये लोग धन खर्च कर देते हैं। स्त्री पुत्रों से भी अपना यह स्थूल शरीर अधिक प्रिय होता है क्योंकि अन्न के नहीं मिलने पर अपने शरीर की रक्षा के लिये लोगों ने पुत्र आदि की भी बिक्री की है ऐसा पुराणों मे कहा गया है।

स्थूल शरीर से भी इन्द्रिय प्रिय है क्योंकि देखा जाता है कि किसी के ऊपर यदि लाठी का प्रहार होने लगे तो प्रथम वह अपनी इन्द्रिय की रक्षा का यत्न करता है हाथ से उसे रोकता है। इन्द्रिय से भी प्राण प्रिय होता है क्योंकि राजा की यदि ऐसी आज्ञा होती है कि इस मनुष्य की नाक या कान काट लो अथवा प्राण दण्ड दे दो तो वह मनुष्य अपने प्राण को बचाता है उस समय नाक या कान कटा देता है।

प्राण से भी आत्मा प्रिय है क्योंकि असाध्य रोग से पीड़ित होने पर लोग यह कहते देखे जाते हैं कि 'अब तो प्राण चला जाय तो अच्छा है'। विशेष दु:ख उपस्थित होने से लोग विष आदि खाकर प्राण नाश कर लेते हैं, जिससे उनकी आत्मा को विशेष दुःख भोगना न पडे। तात्पर्य है यह कि जो जितना आत्मा का अनुकूल होता है वह उतना ही आत्मा का प्रिय होता है जो प्रिय होते हैं वे अपनी आत्मा के लिये ही प्रिय होते हैं। जैसा उपनिषद् में कहा है—

"आत्मनस्तु कामाय सर्व प्रिय भवति"॥

जिस प्रकार गृह और गृह के सारे पदार्थ को दीपक प्रकाशित करता है उसी प्रकार यह साक्षी रूप आत्मा शरीर को और शरीर में

अवस्थित इन्द्रिय प्राण, मन, बुद्धि सब को प्रकाशित करता है और सुषुप्ति अवस्था में इन्द्रिय मन बुद्धि और विषय इन सब के अभाव को भी प्रकाशित करता है। इस प्रकार गवेषणा करने से यह निश्चित होता है कि देह इन्द्रियादि से भिन्न आत्मा सत् चित् आनन्द स्वरूप है। यही आत्मा ब्रह्म है ऐसा दृढ रूप से निश्चय करने को तत्त्व ज्ञान कहते हैं। उसे आत्म ज्ञान या ब्रह्म ज्ञान भी कहते हैं।

> अहं भवान्नचान्यस्त्वं त्वमेवाहं विचक्ष्व भो।
> न नौ पश्यन्ति कवयश्छिद्रं जातु मनागपि ॥
> (भाग० ४।२८।६२)

मैं और तुम अलग अलग नहीं वरन् एक ही हैं। ऐसा समझो कि 'मैं ही तुम हो और तुम ही मैं हूँ' जो चतुर विद्वान् पुरुष हैं वे हम (परमात्मा) में और तुम (जीवात्मा) में कुछ भी अन्तर नहीं देखते हैं।

> यथा पुरुष आत्मानमेकमादर्शचक्षुषो ।
> द्विधाभूतमवेक्ष्येत तथैवान्तरमावयो. ॥
> (भाग० ४।२८।६३)

अज्ञानी पुरुष शीशे और नेत्रों में अपने को प्रतिबिम्बित देखकर जैसे अपना विभेद जानता है वैसे ही परमात्मा और जीवात्मा का विभेद है अर्थात् परमात्मा बिम्ब है और जीवात्मा उसका प्रतिबिम्ब है। बिम्ब और प्रतिबिम्ब का वास्तव में अभेद रहता है।

एष स्वयंज्योतिरजोऽप्रमेयो महानुभूतिः स्वकलानुभूतिः ।
एकोऽद्वितीयो वचसां विरामे येनेपिता वागसवश्चरन्ति ॥
(भाग० ११।२८।३५)

यह आत्मा ज्योति स्वरूप, अज, अप्रमेय, महा अनुभूति स्वरूप और स्वयं प्रकाश है, तथा एक और अद्वितीय है। उस आत्मा में वाणी के सचार नहीं होने पर भी जिसके द्वारा परिचालित होकर वाणी और प्राण अपना कार्य करते हैं।

तत्त्वं नरेन्द्र जगतामथ तस्थुषां च देहेन्द्रिया सुधिषणा-त्मभिरावृतानाम्। यः क्षेत्रवित्तपतया हृदि विष्वगाविः प्रत्यक् चकास्ति भगवांस्तमवेहि सोऽस्मि ॥
(भाग० ४।२२।३७)

हे राजन्! इन्द्रिय, प्राण, बुद्धि और अहंकार से ढँके हुए चर और अचर जीवों के हृदय में नियन्ता रूप से जो भगवान् प्रकाशवान् हैं, तुम जानो कि 'सोऽहमस्मि' अर्थात् 'मैं वही परमात्मा हूँ' और 'अयमात्मा ब्रह्म' 'प्रज्ञान ब्रह्म' 'तत्त्वमसि' तथा 'अहं ब्रह्मास्मि' इस प्रकार के चारों वेदों के महावाक्यों के द्वारा भी जीव और ब्रह्म का अभेद ही प्रतिपादन किया गया है। जीव और ब्रह्म के दृढ रूप से अभेद ज्ञान को ही तत्त्वज्ञान कहते हैं।

शंका—ये आत्मा सुखी और दुःखी होते रहते हैं तथा अनेकानेक हैं और परिच्छिन्न (एक देशीय) हैं। पुण्य पाप के कर्त्ता हैं और उनके फल स्वरूप सुख दुःख भोगते हैं और ब्रह्म

ना पुण्य पाप से रहित है, सुख दुःख से रहित है, अपरिच्छिन्न (व्यापक) है और एक है। इस प्रकार अत्यन्त विभिन्नता रहने म इस आत्मा को ब्रह्म कहना युक्ति विरुद्ध है।

समाधान—आत्मा (जीव) और ब्रह्म इन दोनों की एकता हा सकती है। विभिन्नता उपाधियों के कारण प्रतीत होती है, वह मिथ्या है। जिस प्रकार एक ही आकाश क चार भेद उपाधियों के कारण भासित होते हैं उसी प्रकार एक ही ब्रह्म क चार भेद उपाधियों के कारण प्रतीत होते हैं उन भेदों में वास्त विकता नहीं है। एक आकाश के घटाकाश, जलाकाश, मेघाकाश, महाकाश ये चार भेद घट, जल, मेघ इन उपाधियों के कारण ही प्रतीत होते हैं।

घटाकाश।

आकाश के जिस प्रदेश को जल से परिपूर्ण घट (घड़ा) अवरुद्ध करता है अर्थात् जिस प्रदेश को व्याप्त करके घडा अव स्थित रहता है उस प्रदेश को घटाकाश कहते हैं।

जलाकाश।

जल से परिपूर्ण जो घट है उस घट के भीतर का, जो जल का अधिष्ठान भूत आकाश है उसे अर्थात् घट के भीतर के आकाश के जिस प्रदेश को जल अवरुद्ध करता है, आकाश के उस प्रदेश को तथा उस जल म ऊपर से जो बादल और नक्षत्र सहित आकाश का प्रतिबिम्ब पडता है उस प्रतिबिम्ब को जला

काश कहते हैं। घट के अन्तर्गत जो जल है उसके अधिष्ठान भूत आकाश और उस जल में प्रतिबिम्बित आकाश दोनों जलाकाश हैं।

मेघाकाश ।

आकाश के जिस प्रदेश को मेघ (बादल) अवरुद्ध करता है अर्थात् मेघ जिस प्रदेश में अवस्थित रहता है उस प्रदेश को तथा मेघ के अन्तर्गत जो जल है उस जल में जो आकाश का प्रतिबिम्ब पडता है उसको मेघाकाश कहते हैं। मेघ के अधिष्ठान भूत आकाश और मेघ के अवयव स्वरूप जल में प्रतिबिम्बित आकाश, यह सब मेघाकाश है।

महाकाश ।

घट, मठ, जल, मेघ और सारे ब्रह्माड में सर्वत्र एक रस, व्यापक जो आकाश है उसे महाकाश कहते हैं। जिस प्रकार उपर्युक्त घट, जल, मेघ आदि उपाधियों की विभिन्नता से आकाश के भी भेद प्रतीत होते हैं उसी प्रकार माया, अविद्या आदि उपाधियों की विभिन्नता से ही एक ब्रह्म चेतन के भी जीव कूटस्थ, ईश्वर, ब्रह्म ये चार भेद भासित होते हैं।

जीव ।

सर्वत्र व्यापक ब्रह्म चेतन के जिस प्रदेश को व्यष्टि अविद्या (अविद्या का अश विशेष) अथवा अन्त करण अवरुद्ध करता है, चेतन के उस प्रदेश को तथा व्यष्टि अविद्या अथवा अन्त -

करण सहित इनमें प्रतिबिम्बित चेतन को जीव कहते हैं। व्यष्टि अविद्या अथवा अन्तःकरण का अधिष्ठान भूत चेतन और इन अविद्या अथवा अन्तःकरण में अवस्थित चेतन का प्रतिबिम्ब तथा उपाधि रूप वह अविद्या अथवा अन्तःकरण इन तीनों के समुदाय जीव हैं।

शंका—रूपवान् पदार्थ का रूपवान् पदार्थ में प्रतिबिम्ब पड़ते देखा जाता है। जैसे—शुक्ल रूप के दर्पण में गौर, श्याम आदि रूप के मुख का प्रतिबिम्ब पड़ता है। रूप रहित अविद्या अथवा अन्तःकरण में रूप रहित चेतन का प्रतिबिम्ब कैसे पड़ सकता है?

समाधान—जैसे रूप रहित आकाश में रूप रहित शब्द की प्रतिध्वनि जो प्रतिबिम्ब स्वरूप है पड़ती है अर्थात् कूप आदि में प्रवेश कर उसके भीतर में शब्द करने से उस शब्द के सदृश एक दूसरा शब्द उस शब्द के पीछे सुनाई पड़ता है वह शब्द का प्रतिबिम्ब ही है इसी प्रकार रूप रहित अन्तःकरण में रूप रहित चेतन का प्रतिबिम्ब पड़ता है।

कूटस्थ।

व्यष्टि अविद्या अथवा अन्तःकरण के अधिष्ठान भूत जो चेतन है उसे कूटस्थ कहते हैं। महा चेतन के जिस अंश को व्यष्टि अविद्या अथवा अन्तःकरण अवरुद्ध करता है, चेतन का केवल वही अंश कूटस्थ है।

ईश्वर ।

चेतन के जिस प्रदेश को माया अवरुद्ध करती है उस प्रदेश को तथा माया को और माया में जो चेतन का प्रतिबिम्ब पड़ता है उस प्रतिबिम्ब को ईश्वर कहते हैं। माया का अधिष्ठान भूत चेतन का अंश तथा माया और माया में प्रतिबिम्बित चेतन इन तीनों का समुदाय ईश्वर है।

ब्रह्म ।

ब्रह्मांड के भीतर, बाहर, सर्वत्र. एक रस व्यापक जो चेतन है उसे ब्रह्म कहते हैं। इस प्रकार एक ही ब्रह्म चेतन के माया, अविद्या आदि उपाधियों के भेद से अनेक भेद होते हैं और जीव कूटस्थ, ईश्वर आदि विभिन्न संज्ञाएं होती हैं। इनमें कूटस्थ और ब्रह्म का तो नित्य अभेद है क्योंकि कूटस्थ की अविद्या अथवा अन्तःकरण जो उपाधि है वह मिथ्या है। प्रतीति होने पर भी मिथ्या वस्तु असत्य ही है जैसे—रज्जु में प्रतीत होने पर भी मिथ्या सर्प असत्य ही है। असत्य वस्तु के द्वारा सत्य वस्तु का विभेद नहीं हो सकता है। स्वप्न में प्राप्त राज्य से कोई वास्तव में राजा नहीं बनता है। प्रतीत मात्र मिथ्या भूत अन्तःकरण के द्वारा चेतन ब्रह्म का विभेद नहीं हो सकता है। इस प्रकार मीमांसा करने से "कूटस्थ और ब्रह्म का नित्य अभेद है" ऐसा निश्चित होता है। जैसे—घटाकाश और महाकाश का नित्य अभेद है इसीको वेदान्त शास्त्र में मुख्य सामानाधिकरण्य कहा

गया है। ईश्वर और जीव में जो चेतन का अश है वह तो ब्रह्म स्वरूप ही है, उसका मुख्य अभेद नित्य सिद्ध है। ईश्वर और जीव मे जो चेतन का प्रतिबिम्ब अश है और माया, अविद्या अन्त करण अश है उन अशों का बाधकर उन अशों से चेतन का ब्रह्म से अभेद होता है। जैसे—जो पुरुष नेत्र के दोष से अथवा अन्धकार आदि दोष के रहने से स्थाणु (वृक्ष के ठूठ) को पुरुष समझ रहा है वही पुरुष उन दोषों के हटने के पश्चात् *इस प्रकार समझता है कि मैंने जिसे पुरुष समझा था,* वह पुरुष नहीं है किन्तु स्थाणु है, इसी प्रकार ईश्वर, जीव आदि जो ससार भासित होते हैं तत्त्व ज्ञान होने से उनका बाध होजाता है। उस समय ऐसा निश्चय होता है कि यह ईश्वर जीव आदि ससार, ससार नहीं है किन्तु ब्रह्म चेतन है। इसको वेदान्त शास्त्र *म बाध सामानाधिकरण्य कहते हैं। मुख्य सामानाधिकरण्य* अथवा बाध सामानाधिकरण्य से जीव, कूटस्थ, ईश्वर और जगत् का वास्तविक स्वरूप ब्रह्म चैतन्य है ऐसा जो दृढ निश्चय करना है वह तत्त्व ज्ञान है इस प्रकार के तत्त्व ज्ञान सम्पन्न पुरुष को तत्त्व ज्ञानी कहते हैं।

शका—भ्रान्ति से ही जब यह ससार प्रतीत होता है और *सासारिक व्यवहार भी भ्राति से ही होते हैं तो तत्त्व ज्ञानी पुरुष* को ससार की प्रतीति और सासारिक व्यवहार नहीं रहना चाहिये, क्योंकि तत्त्व ज्ञान होने के बाद भ्रान्ति नहीं रहती है। जैसे—रज्जु के ज्ञान होने के बाद *वहा मिथ्या सर्प की प्रतीति*

नहीं होती, तब तत्त्व ज्ञानी पुरुष को ससार की प्रतीति कैसे होती है और उसके द्वारा सासारिक व्यवहार कैसे किये जाते हैं।

समाधान—भ्रम (भ्राति) दो प्रकार के हाते हैं। १-सोपाधिक भ्रम २-निरुपाधिक भ्रम।

सोपाधिक भ्रम।

किसी उपाधि के रहने स जो भ्रम होता है उसे सोपाधिक भ्रम कहते हैं। जपा पुष्प (लाल रग का एक फूल) क समीप म रहने से स्फटिक में जो रक्तवर्ण का भ्रम है वह सोपाधिक भ्रम है इसी प्रकार दर्पण में मुख का जो भ्रम है वह सोपाधिक भ्रम है।

निरुपाधिक भ्रम।

जो बिना उपाधिका भ्रम होता है उसे निरपाधिक भ्रम कहत हैं। जैस—रज्जु में सर्प का भान, सीपीमें रजत का भान स्थाणु में पुरुष का भान होता है वह निरुपाधिक भ्रम है। इनमें निरुपाधिक जो भ्रम है उस भ्रम से व्यावहारिक कार्य नहीं होता है अर्थात् रज्जु में जो सर्प और शुक्ति (सीपी) में जो रजत (चादी) प्रतात होता है उस सर्प से दशन और उस रजत से आभूषण नहीं हा सकता है। जो सर्प और रजत का व्यावहारिक कार्य है वह उन सर्प रजतों स नहीं हो सकता। उनकी प्रतीति मात्र हाता है, व्यावहारिक कार्य उनसे नहीं किये जाते हैं, किन्तु अधिष्ठान के

ज्ञान होने से ही अर्थात् तत्त्वज्ञान होते ही वह भ्रम नहीं रहता, जो सर्प और रजत प्रतीत होता था, वह अब रज्जु और शुक्ति के रूप में स्पष्ट रूप से प्रतीत होने लगता है और सोपाधिक भ्रम में जब तक जपा पुष्प, दर्पण आदि उपाधियां रहती हैं, तत्त्वज्ञान होने पर भी तब तक उस भ्रान्त वस्तु की प्रतीति होती रहती है और तत्त्वज्ञान होने पर भी उन भ्रान्त वस्तुओं से व्यावहारिक कार्य होते रहते हैं। उसका व्यावहारिक कार्य उस समय बन्द होजाता है जब उपाधि नष्ट होजाती है इसी लिये ससार को निश्चित रूप से मिथ्या समझने पर भी तत्त्व ज्ञानी पुरुष को तब तक ससार की प्रतीति होती रहती है और उससे व्यावहारिक कार्य होते रहते हैं जब तक अविद्या अथवा अन्त करण रूप उपाधि रहती है उस प्रतीति से अथवा उस व्यवहार से तत्त्वज्ञानी पुरुष की अपने उद्देश्य की प्राप्ति में कुछ क्षति नहीं होती।

यथा ह्यप्रतिबुद्धस्य प्रस्वापो बह्वनर्थभृत्।
स एव प्रतिबुद्धस्य न वै मोहाय कल्पते ॥
(भाग० ११।२८।१४)

जैसे निद्रित व्यक्ति को स्वप्न से अनेक अनर्थ जान पडते हैं किन्तु जागने पर वह स्वप्न फिर मोह नहीं उत्पन्न कर सकता है (उसी प्रकार अज्ञानी पुरुष को सासारिक अनर्थ होते रहते हैं और तत्त्वज्ञानी पुरुष को वे अनर्थ नहीं होते हैं)।

यथा नभो वाय्वनलाम्बुभूगुणैर्गतागतैर्वर्तुगुणैर्न सज्जते ।
तथाक्षरं सत्त्वरजस्तमोमलैरहं मतेःसंसृतिहेतुभिः परम् ॥
(भाग० ११।२८।२६)

जिस प्रकार वायु, अग्नि, जल और पृथिवी के शोषण, दहन आदि गुणों से अथवा आने जाने वाली ऋतुओं के शीत उष्ण आदि गुणों से आकाश लिप्त नहीं होता है उसी प्रकार अहंकार से अतीत, अविनाशी आत्मा भी ससार के हेतु सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण रूप मल से लिप्त नहीं होता है।

यदि स्म पश्यत्यसदिन्द्रियार्थं नानानुमानेन विरुद्धमन्यत् ।
न मन्यते वस्तुतया मनीषी स्वाप्नं यथोत्थाय तिरोदधानम् ॥
(भाग० ११।२८।३२)

विवेकी व्यक्ति यद्यपि बहिर्मुख असत् इन्द्रियों के विषयों को देखता है किन्तु आत्मा से भिन्न अन्य पदार्थों को सत् नहीं मानता है क्योंकि वह अनुमान के विरुद्ध है। जैसे निद्रा से जागने पर स्वप्न दृष्ट वस्तु को मनुष्य सत् नहीं मानता है।

पूर्वं गृहीतं गुणकर्मचित्रमज्ञानमात्मन्यविविक्तमग ।
निवर्त्तते तत्पुनरीक्षयैव न गृह्यते नापि विसृज्य आत्मा ॥
(भाग० ११।२८।३३)

हे उद्धव ! अज्ञान अवस्था में गुण और कर्मों के द्वारा यह देह इन्द्रियादि रूप अज्ञान कार्य आत्मा में अभिन्न भाव से प्रतीत होता है और तत्त्वज्ञान होने पर वह निवृत्त हो जाता है। प्रारब्ध कर्म वशात् जब तक अविद्या रूप उपाधि है तब तक

प्रतीति है, उसके विनाश होते ही संसार की प्रतीति और उससे व्यावहारिक कार्य सब कुछ सदैव के लिये नष्ट हो जाते हैं और तत्त्वज्ञानी पुरुष सर्वदा के लिये सच्चिदानन्द स्वरूप हो जाता है। मिथ्या समझ लेने पर असत्य वस्तु की प्रतीति भी न हो ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि जिस पुरुष को किसी नेत्र दोष के रहने के कारण दो चन्द्रमा की प्रतीति होती है उसको यह निश्चय रहता है कि चन्द्रमा एक ही होता है, यह दो चन्द्रमा की मेरी प्रतीति मिथ्या है, ऐसा दृढ़ ज्ञान के रहते हुए भी दो चन्द्र की प्रतीति तब तक होती रहती है जब तक उसे नेत्र दोष रहता है। पित्त दोष के रहने से गुड़ मधुर नहीं प्रतीत होता है किन्तु तिक्त प्रतीत होने लगता है, गुड़ का तिक्त प्रतीत होना मिथ्या है ऐसा दृढ़ ज्ञान के रहने पर भी दोषवशात् तिक्त रूप के गुड़ की प्रतीति होती रहती है।

साराश यह है कि तत्त्वज्ञान होते ही निरुपाधिक भ्रम और उसके विषय निवृत्त हो जाते हैं पुनः उसकी प्रतीति नहीं होती और जो सोपाधिक भ्रम रहता है, तत्त्वज्ञान होने पर उसकी भी निवृत्ति होती है किन्तु प्रतीति सहित उसकी निवृत्ति नहीं होती है। उसे भ्रम रूप से समझते हुए भी उसकी प्रतीति उपाधि के अस्तित्व पर्यन्त होती रहती है। इस प्रकार यद्यपि तत्त्वज्ञानी पुरुष को भी प्रारब्ध वशात् यह संसार और संसार के व्यवहार शरीर धारण पर्यन्त रहते हैं तथापि उस ससार के व्यवहार से ज्ञानी पुरुष विकल नहीं होते। जैसे बाजीगर

(ऐन्द्रजालिक) के द्वारा निर्मित भयंकर व्याघ्र आदि जन्तु को देखकर बुद्धिमान् पुरुष उससे विकल या अधीर नहीं होते है क्योंकि उन्हें निश्चय रहता है कि बाजीगर का बनाया हुआ यह मिथ्या व्याघ्र है और बालक उसे देखकर विकल हो जाते हैं इसी प्रकार ससारी पुरुष ससार मे आसक्त रह कर उससे विकल होते रहते हैं और ससार में रहते हुए भी ज्ञानी पुरुष संसार में आसक्त नहीं रहते हैं, उससे विकल नहीं होते हैं, उसे निश्चित मिथ्या समझते रहते हैं।

देहस्थोऽपि न देहस्थो विद्वान् स्वप्नाद्यथोत्थितः ।
अदेहस्थोऽपि देहस्थः कुमतिः स्वप्न दृग्यथा ॥
(भाग० ११।११।८)

स्वप्नावस्था से उत्थित पुरुष के समान तत्त्व ज्ञानी इस देह में अवस्थित रहकर भी वास्तव में इस देह मे अवस्थित नहीं रहते हैं क्योंकि देह के सुख-दु.ख से प्रसन्न और विकल नहीं होते हैं और संसारी अज्ञानी पुरुष स्वप्न देखने वाले व्यक्ति के समान वास्तव में देहस्थ न होकर भी देहस्थ रहता है क्योंकि देहाभिमानी होकर देह जनित सुख-दुःखों को भोगता रहता है।

इन्द्रियैरिन्द्रियार्थेषु गुणैरपि गुणेषु च ।
गृह्य माणेष्वहं कुर्यान्न विद्वान्यस्त्वविक्रियः ॥
(भाग० ११।११।९)

विकार रहित जो तत्त्व ज्ञानी पुरुष हैं उन्हें चाहिये कि इन्द्रियां अपने विषयों को और गुण अपने गुणों को ग्रहण

करते हैं ऐसा समझकर 'मैं यह करता हूँ' इस प्रकार की अहं भावना न करें।

दैवाधीने शरीरेऽस्मिन् गुणभाव्येन कर्मणा ।
वर्त्तमानोऽबुधस्तत्र कर्त्तास्मीति निबध्यते ॥
(भाग० ११।११।१०)

जो संसारी अज्ञानी पुरुष है वह गुणों के जो कर्म हैं उससे इस दैवाधीन शरीर में 'मैं करता हूँ' इस प्रकार भावना के कारण बन्धन को प्राप्त होता है।

एवं विरक्तः शयन आसनाटनमज्जने ।
दर्शनस्पर्शनघ्राणभोजनश्रवणादिषु ॥
(भाग० ११।११।११)

तत्त्व ज्ञानी पुरुष विरक्त रहकर शयन, उपवेशन, पर्यटन, स्नान, दर्शन, स्पर्श, भोजन, श्रवण और घ्राण आदि विषयों को इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण करता हुआ भी उक्त विषयों में आसक्त नहीं होता।

न तथा बध्यते विद्वांस्तत्र तत्रादयन्गुणान् ।
प्रकृतिस्थोऽप्यससक्तो यथा ख सवितानिलः ॥
वैशारद्येच्चयाऽसंगशितया छिन्नसशयः ।
प्रतिबुद्ध इव स्वप्नान्नानात्वाद्विनिवर्तते ॥
(भाग० ११।११।१२-१३)

ज्ञानी पुरुष माया में अवस्थित रहकर भी आकाश, सूय और अग्नि के समान निर्लिप्त रहता है, वैराग्याभ्यास से तीक्ष्ण

हुई विवेक बुद्धि के द्वारा सब सशयों को छिन्न कर सोकर जागे हुए व्यक्ति के समान देहादि प्रपच से निवृत्त होता है।

यस्य स्युर्वीतसकल्पाः प्राणेन्द्रियमनोधियाम् ।
वृत्तयः स विनिर्मुक्तो देहस्थोऽपि हि तद्गुणैः ॥
(भाग० ११।११।१४)

जिसके प्राण, इन्द्रिय, मन और बुद्धि के सब आचरण सकल्प शून्य होजाते हैं वह ज्ञानी पूर्व सस्कार वश शरीर में स्थित होकर भी देहके धर्मों से मुक्त ही हैं। रहस्य यह है कि कर्म तीन प्रकार के होते हैं। १—सचित कर्म, २—प्रारब्ध कर्म, ३—आगामी कर्म।

संचित कर्म।

जन्म जन्मान्तर के किये गये जो पुण्य पापरूप कर्म वासना रूप से अन्त करण में अवस्थित रहते हैं उन्हें सचित कर्म कहते हैं।

प्रारब्ध कर्म।

सचित कर्मों में से जिस कर्म की परिपक्व अवस्था होकर वह भोग देने के समुख होजाता है उसे प्रारब्ध कर्म कहते हैं।

आगामी कर्म।

जो कर्म वर्त्तमान देह के द्वारा किये जाते हैं और भविष्य में सचित कर्म बनेंगे उन्हें आगामी कर्म कहते हैं। तत्त्वज्ञान होने से समस्त संचित कर्म विनष्ट होजाते हैं कमल के पत्र में जिस

प्रकार जल का स्पर्श नहीं होता है अर्थात् जल की दाग जरा सी भी उसमें नहीं लगती है उसी प्रकार ज्ञानी पुरुषको आगामी कर्म के द्वारा जरा सा भी बन्धन नहीं होता, किन्तु जो प्रारब्ध कर्म है उसका भोग ज्ञानी अज्ञानी सबको करना ही पड़ता है। जैसे-

" प्रारब्ध कर्मणा भोगादेव क्षयः "

प्रारब्ध कर्म के भोग करने से ही उसका क्षय होता है। इस प्रबल नियम के कारण ज्ञानी पुरुष के भी शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि के द्वारा व्यवहार होते रहते हैं। प्रारब्ध कर्म के फल स्वरूप जो शरीर प्राप्ति है उसके द्वारा प्रारब्ध कर्म के भोग हो चुकने पर ज्ञानी पुरुष सर्वथा निष्कर्म होकर विदेहमुक्त होजाता है। जिस प्रकार जपा पुष्प और स्फटिक के स्वरूप को यथार्थ रूप से जो जानते हैं यद्यपि उन्हें भी स्फटिक में रक्त वर्ण की प्रतीति होती है तथापि उन्हें यह निश्चय रहता है कि स्फटिक स्वच्छ (शुक्ल वर्ण) होता है यह लाली जपा पुष्पके सम्बन्ध से इसमें भासित होती है इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष को प्रारब्ध कर्म के दोष से आत्मा में कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि के भान होते हुए भी यह निश्चय रहता है कि आत्मा कर्त्ता नहीं है, भोक्ता नहीं है। वह शुद्ध, सत्, चित् परमानन्द रूप है, एक है, निर्विकार है।

प्रकृतिस्थोऽपि पुरुषो नाज्यते प्राकृतैर्गुणैः ।
अविकारादकर्तृत्वान्निर्गुणत्वाजलार्कवत् ॥
(भाग० ३।२७।१)

जिस प्रकार सूर्य के जल में प्रतिपिम्बित होने पर भी जल का धर्म जो चञ्चलता या हिलना है उसमें से सूर्य का चलना या हिलना नहीं होता है अर्थात् जल में प्रतिबिम्बित होने पर भी सूर्य जल के धर्म से वास्तव में लिप्त नहीं होता है उसी प्रकार यह आत्मा देह में अवस्थित रहने पर भी प्रकृति (माया) के गुण जो सत्त्व रज तम हैं उनसे अर्थात् सुख दुःख मोहों से वास्तव में लिप्त नहीं होता है, क्योंकि वह आत्मा निर्गुण है, निर्विकार है और अकर्त्ता है।

स एष यर्हि प्रकृतेर्गुणेष्वभिविषज्जते।
अहं क्रियाविमूढात्मा कर्त्तास्मीत्याभिमन्यते॥
(भाग० ३।२७।२)

जब वह आत्मा माया के गुणों में आसक्त हो जाता है, तब उसका स्वरूप अहंकार से विमूढ़ हो जाता है और अपने को पुण्य पाप आदि का कर्त्ता मानने लगता है। जैसे तप्त लोह अग्नि रूप भासित होता है किन्तु वास्तव में वह अग्नि रूप नहीं है। अग्नि से लोह भिन्न पदार्थ है, वैसे ही शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि इन सबमें कर्तृत्व भोक्तृत्व रहते हैं इनके सम्बन्ध से आत्मा में भी भासित होते हैं। वास्तव में शरीर इन्द्रिय आदि से आत्मा सर्वथा भिन्न है, ऐसा दृढ़ निश्चय को ही तत्त्वज्ञान अथवा आत्मज्ञान या साक्षात्कार कहते हैं इसी तत्त्वज्ञान से मनुष्य के अन्तःकरण के आवरण विनष्ट होते हैं जिसके विनष्ट होने से

परमपद स्वरूप मोक्ष प्राप्त हो जाता है, मानव सर्वदा के लिये कृतकृत्य हो जाता है। जैसे—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्तेसर्व संशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

ओ३म् शान्तिः! ओ३म् शान्ति !! ओ३म् शान्तिः !!!

* इति चतुर्दश रत्न *
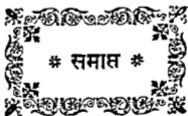
शुद्धाशुद्ध पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	२१	गृहीषा	गृहीत्वा
४	१९	हाजाने हैं	होजाने हैं
५	११	इत्यादि दिया	इत्यादि
"	१२	पढ़ संकल्प	पढ़ने का संकल्प
"	१७	ध्वमि	स्वमि
६	१९	तथा:	तथा
८	१	अदृष्ट का	अदृष्ट जो
"	२०	मात्र को	मात्र का
९	९	घोष आदि मंत्रोंसे	घोष से
१०	२	दैहिक लौकिक	ऐह लौकिक
१३	१५	क्रिया की क्रम से	क्रिया के क्रम से
"	१८	व्यर्थ है	व्यर्थ हैं
१४	१३	यस्य: तु	यस्य तु
१७	१८	होजांय	होजायँ
२१	१६	आर	और
२५	११	रपोरा	रपौरा
२६	२१	कश्चित्	कश्चिन्
३०	८	गृहस्थ	गार्हस्थ्य

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३४	१४	प्राप्ति हो	प्राप्ति के
३९	१६	या	या
”	१७	त्रयोदर्शी	त्रयोदशी
४०	११	समेऽपमान्	समेऽपुमान्
४२	२०	पितृन्	पितॄन्
”	”	नृनन्नै	नृनन्नै
४५	१०	मुपास्ते	मुपासते
”	”	शसित व्रता	शसित व्रता
”	२०	वेदार्थव	वेदाथर्व
”	”	शक्तित्	शक्तित
”	२२	१	१०१
४६	१	पुण्य	पुराण
”	३	सत्क्रिया	सत्क्रिया
”	४	पितृ पर	पित्रमर
”	५	२	१०२
”	८	य पाचा	ये पाचो
”	१२	५	१०५
”	१८	२१	१२१
४७	१९	मार्गं गच्छन्न	मार्गं तेनगच्छन्न
”	”	रिष्यति	रिष्यते
४८	२०	परयेतद दृष्ट	परयेददृष्ट
५१	१८	जीवयु	जीवेयु

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५२	१६	अयमा	अवमो
५२	१५	च भोग	और भोग
५९	८	अन्यगागी	अन्यगागा
६९	२	श्मश्रु	च्छ्मश्रु
,,	,,	लोमदात्म	लोमभृत्ात्म
७०	१	वपत्	वपेत्
,,	७	युञ्जया	युञ्ज्या
७१	१७	जर	क्योंकि जब
७७	१२	दनायदि	दनापदि
८१	१२	शौच	शौर्य
८२	८	प्रधन	प्रधान
,,	१३	घर्म	धर्म
,,	१४	कृषि गो	कृषिर्गो
८६	८	घरको	घर के
८९	१२	यान्योत्यन्ना	यान्यात्पन्ना
९०	६	शृगाल	शृगाल
,,	९	लाक में	लोक में
,,	,,	शृङ्गाली	शृगाल
९४	३	व वस्रा	और वस्रों
९५	१३	कुष्ट	कुष्ठ
,,	१४	,,	,,
,,	२२	अपन	अपनी

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
९६	९	ऋषि के	ऋषि को
९७	२	तेरे ही	तेरी ही
,,	७	भाग की	भाग का
,,	१४	भेजी है	भेजा है
९८	९	पत्नी के साथ	पति के साथ
,,	११	निरोग	नीरोग
,,	२०	धम का	धर्म का
१००	२१	के धीरता	की धीरता
१०१	४	विपती	विपत्ति
,,	१३	कर भी	करके भी
१०२	७	व्याघ्र ने	व्याध ने
,,	८	व्याघ्र	व्याध
१०३	८	वह आपके	आपके
,,	१०	यदि मा	यदिमां
,,	,,	बाल्मीक	वाल्मीकी०
१०४	३	लेली	लेलिया
,,	१२	अपने को	अपना
,,	२१	यही जङ्गल में	यहीं जङ्गल मे
१०५	१५	ने छोटी	छोटी
१०८	१	जावात्मा	जीवात्मा
,,	५	सिवाय अद्वितीय	अद्वितीय

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१०८	१०	जच	जची
१०९	२०	आपके	आपको
,,	,,	जचा	जँचा
१११	३	शैव्या ने	शैव्या
,,	६	विन्दा	वृन्दा
,,	७	मन्दालशा	मन्दालसा
११२	२	देखे	देखें
,,	४	जगधत्री	जगद्धात्री
,,	५	आरुन्धती	अरुन्धती
,,	६	सूर्य ब्रह्म	सूर्या ब्रह्म
,,	१२	इन्दुर्मती	इन्दुमती
,,	१६	शर्मिष्ठ	शर्मिष्ठा
,,	१७	विन्दा	वृन्दा
,,	,,	सैवा	शैव्या
११४	१०	या	यौ
,,	११	सुखादर्क	सुखोदर्क
,,	२०	गौ वध	गो वध
११९	१२	के कारण तीन	के तीन
१२०	८	कार्य्य में करने	कार्य करने
१२४	१०	व्यवहारिक	व्यावहारिक
१२५	२	,,	,,

पृष्ठ	पांक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१४१	२३	होजाते हैं	होजाता है।
१४२	७	पातञ्जलि	पतञ्जलि
१४३	३	श्रावण	श्रवण
,,	६	चित्त के विक्षेप	चित्त के मल और विक्षेप
१४६	३	ग्रज के	व्रज के
१४९	२०	भमिका	भूमिका
,,	,,	नहां	नहीं
१५०	८	भूमिका और	भूमिका का
,,	१२	पष्टी	षष्ठी
१५१	१५	चक्रवर्ति के	चक्रवर्त्ती के
१५५	१	दोनों का ही	दोनों को ही
१६०	३	ऐहिक लौकिक	ऐह लौकिक
१६२	११	अर्चन	अर्चनं
१६८	७	सन्मुख	संमुख
१७३	३	भगवाम्	भगवान्
,,	१४	ऐहिक लौकिक	ऐह लौकिक
,,	२१	भ्रव	ध्रुव
१७४	३	ऐहिक लौकिक	ऐह लौकिक
१७४	२१	भगवान् का	भगवान् को
१७८	२	नहा है	नहीं है
,,	१०	प्रिय है	प्रिय हैं

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१२६	१३	कर्म द्वारा लोक	कर्म द्वारा सिद्ध हो चुके हैं अतः तुम भी लोक
,,	२०	विषयों का	विषयों को
१२८	५	मन को	मन के
,,	१७	समाना	समानाः
१२९	२०	मलीनता	मलिनता
१३०	१	,,	,,
,,	३	,,	,,
,,	७	,,	,,
१३१	,,	फलानि च.	फलानि च
१३४	,,	संविज्ञेयः	स विज्ञेयः
१३५	,,	गुण धम	गुण धर्म
,,	१८	चातुर्वर्ण्यम्	चातुर्वण्य
१३६	१	ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी	ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य शूद्र
,,	६	तिथे पंच	तिथेयं च
१३८	१	लोकान्युन	लोकान्पुन
१३९	,,	किसी के मत से	पाप विनाश और किसी के मत से

पृष्ठ	पांक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१४१	२३	होजाते हैं	होजाता है।
१४२	७	पातञ्जलि	पतञ्जलि
१४३	३	श्रावण	श्रवण
,,	६	चित्त के विक्षेप	चित्त के मल और विक्षेप
१४६	३	बृज के	व्रज के
१४९	२०	भमिका	भूमिका
,,	,,	नहां	नहीं
१५०	८	भूमिका और	भूमिका का
,,	१२	पष्टी	षष्ठी
१५१	१५	चक्रवर्त्ति के	चक्रवर्त्ती के
१५५	१	दोनों का ही	दोनों को ही
१६०	३	ऐहिक लौकिक	ऐह लौकिक
१६२	११	श्रर्चनं	अर्चनं
१६८	७	सन्मुख	संमुख
१७३	३	भगवाम्	भगवान्
,,	१४	ऐहिक लौकिक	ऐह लौकिक
,,	२१	ध्रव	ध्रुव
१७४	३	ऐहिक लौकिक	ऐह लौकिक
१७४	२१	भगवान् का	भगवान् को
१७८	२	नहा है	नहीं है
,,	१०	प्रिय है	प्रिय हैं

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१८१	६	ऐहिक लौकिक	ऐह लौकिक
१८३	१२	न न हृष्यति	न हृष्यति
१८७	१९	और २	और
१८८	२०	स्वार्थपरः	स्वार्थः परः
१९०	८	ज्ञानत्व लक्षणा	ज्ञान लक्षणा
१९३	१	निश्चलभ्	निश्चलम्
१९५	२२	सूँढ़ देखकर	देखकर सूँढ़
१९६	८	गजेन्द्र का	गजेन्द्र को
,,	१३	ऐहिलौकिक	ऐह लौकिक
१९७	४	सुख क्षमीः	सुखः क्षमी
२०४	१८	लगे	लगें
,,	२०	भवन्ति	भवन्ति
२०५	१२	तैलोक्य के	त्रैलोक्य के
,,	१९	जसे	जैसे
२१०	१६	जा	जो
२१४	१७	अहंहार	अहंकार
२२०	११	मुझ	जो मुझ
२२४	१	और यदि	और
२२५	८	गुणा का	गुणों का
२२९	७	युञ्जया	युञ्ज्या
२३०	६	वेदन विद्या	वेद विद्या
,,	२१	जिसको	जिसकी

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२३४	२	प्रतीति	प्रतीत
२३७	१५	निन्द्रित	निद्रित
२४०	२	राज के	राजा के
,,	४	उसे	वह
२४२	१७	सुत	सुत
२४४	४	रुद्रानि	रुद्राति
२४५	७	कार्य ब्रह्म	कारण ब्रह्म
,,	१७	शालिग्राम	शालग्राम
२४८	४	कीर्त्तन्य	कीर्त्तयम्
,,	१६	ध्यान न करे	ध्यान करे
२५०	१९	रमुघ्यद्	रमुघ्य
२५१	१८	द्रश	द्दश
२५२	१०	कौमोद	कौमोद की
,,	१२	गजार	गुजार
२५३	१५	सुस्मिग्ध	सुस्निग्ध
२५६	१८	श्रीगगाजा	श्रीगगाजी
२६१	१	शाखा में	शाखों में
२६२	५	दृष्टा	द्रष्टा
२६४	१२	ज्वर से कृत	ज्वर-कृत
,,	,,	नारायण को	नारायण का
२७१	११	निर्गण	निर्गुण
,,	१६	,,	,,

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२७२	१३	"	"
"	२०	ह्म	ब्रह्म
२७३	१	परब्रह्म की	परब्रह्म
"	१५	उसीको	उसीका
२७५	१९	शास्त्र व	शास्त्र और
२७७	१५	भोजन न	भोजन
"	१७	जगने	जागने
२८०	६	वरुणा	वरणा
"	७	"	"
"	८	"	"
२८५	८	पूर्व	पूर्ण
२९५	१२	निदिध्यासिव्यः	निदिध्यासितव्यः
"	१५	तत्त्व	तत्त्वम्
"	१६	"	"
"	२०	आनन्दमय	आनंदमय आदि
२९८	१३	जड़ रूप है	जड़ रूप हैं
२९९	७	मूल	मूत्र
३०५	४	मात्र है	मात्र हैं
३०७	८	चान्यास्त्वं	चान्यस्त्वं
३१३	५	का ब्रह्म से	ब्रह्म का
३१७	३	स्यरूप	स्वरूप
३१९	२१	सूय	सूर्य

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२७२	१३	"	"
"	२०	ह्म	ब्रह्म
२७३	१	परब्रह्म की	परब्रह्म
"	१५	उसीको	उसीका
२७५	१९	शास्त्र व	शास्त्र और
२७७	१५	भोजन न	भोजन
"	१७	जगने	जागने
२८०	६	वरुणा	वरणा
"	७	"	"
"	८	"	"
२८५	८	पूर्व	पूर्ण
२९५	१२	निदिध्यासिन्य:	निदिध्यासितव्य:
"	१५	तत्त्व	तत्त्वम्
"	१६	"	"
"	२०	आनन्दमय	आनंदमय आदि
२९८	१३	जड़ रूप है	जड़ रूप हैं
२९९	७	मूल	मूत्र
३०५	४	मात्र है	मात्र हैं
३०७	८	चान्यास्त्वं	चान्यस्त्वं
३१३	५	का ब्रह्म से	ब्रह्म का
३१७	३	स्यरूप	स्वरूप
३१९	१३	सूय	सूर्य